श्रीहरि

महाकवि 'नन्ददास' प्रणीत

भ्रमर-गीत

(टिप्पणी और मर्मभाव-द्योतक सूक्तियोंसहित)

सम्पादक :

अयोध्याप्रसाद चतुर्वेदी

[illegible]

प्रकाशक :

गीताप्रेस गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
मोतीलाल जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य १ ५० (एक रुपया पचास नये पैसे)

पता—गीताप्रेस, पा० गीताप्रेस (

सम्पादकीय

हिंदी जगतकी ब्रजभाषा-साहित्य" में भ्रमर-गीत या "भँवर-गीत" रूप काव्य-सृजनकी परंपरा उस "श्रीमद्भागवत महापुराण" से आयी जिसके प्रति—

'निगमकल्पतरोर्गलितं फलं
शुकमुखादमृतद्रवसंयुतम् ।
पिबत भागवतं रसमालयं
मुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

—भा [illegible] १।

जैसी आत्मानंददायिनी अनेक सरस-सूक्तियाँ स्तुति-रूपमें कही-सुनी जाती हैं। अतः हिंदी-साहित्यमें संस्कृतसे उधार लिया गया यह साहित्य मौलिक रूपमें उस मूलसे कहीं अधिक [illegible] यह निस्संदेह कहा जा सकता है। भक्त-कवियोंने तो इस हीरे जैसे उज्ज्वल विषयमें अपनी अपनी प्रतिभा-द्वारा 'चार चाँद' ही लगा दिये। उदाहरणके लिये यह "श्रीनंददासजी" प्रणीत "भ्रमर" या "भँवर-गीत" प्रस्तुत है। यों तो इस स्तुत्य विषयपर 'अष्टछाप' के सुप्रसिद्ध साहित्य-सूर्य "सूरदासजी" एवं "परमानंददासजी" के साथ-साथ रीति-कालके और भी महत्त्वपूर्ण कवियोंने जिनकी गणना उँगलियोंपर नहीं गिनायी जा सकती। [illegible] लिखा है इस पावन विषयको उन्होंने समझाया भी खूब है किंतु जैसा श्रीनंददासजीने [illegible] रस छंदकी गागरमें सम्पूर्ण भावोंका 'सागर' भरा है वैसा दूसरे कवियोंसे नहीं बन पड़ा है। सच तो यह है कि यह विरह-विभूषित-काव्य-निलय श्रीनंददासजीका भ्रमरगीत [illegible] ब्रजभाषाको [illegible] सुललित-रूपमें इतना ऊँचा उठा हुआ है कि उसकी समता कोई भी कवि नहीं कर सका है। तभी तो साहित्य-समर्मज्ञ भावके प्रति—

-और कवि महिमा ... महिमा।
कहा है। वास्तवमें महाकवि श्रीनंददासजी शब्दों और भावोंके सच्चे जड़िया ही थे ।

"श्रीनंददासजी-कृत ग्रंथ"

महाकवि श्रीनंददासजीकृत निम्नलिखित ग्रंथ देखने और सुननेमें आते हैं— पाँच मंजरियाँ (रसमंजरी विरहमंजरी रूपमंजरी अनेकार्थ मंजरी नाममंजरी) रासपंचाध्यायी भ्रमर-गीत रुक्मिणीमंगल, भागवत दशमस्कंध पूर्वार्द्ध (अनुवाद) श्यामसगाई सिद्धांतपंचाध्यायी गोवर्द्धनलीला दानलीला मानलीला वेणुगीत सुदामाचरित कृष्णमंगल, ज्ञानमंजरी नासकेत पुराण प्रबोधचंद्रोदय नाटक रूपमंजरी राधीमंगल विज्ञानार्थ प्रकाशिका हितोपदेश (राजनीति हितोपदेश—भाषा) और फुटकल पदावली । इस नामावलीमें—"पाँचों मंजरियाँ रास-पंचाध्यायी भ्रमर-गीत अत्यन्त प्रसिद्ध हैं और अनेक स्थानोंसे अनेक बार प्रकाशित भी हुए हैं। बाकीके आपके ग्रंथ-रत्न यत्र-तत्र बिखरे हुए पड़े थे जिन्हें संपादकने बड़े परिश्रमसे संग्रह किया है। अतएव इन सभी रत्न रचनाओंमें भावोंका लालित्य अद्भुत ढंग विषयानुकूल कथानकोंकी उठान "विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्—रसनिष्पत्ति" अर्थात् रसोंका सरस रूप अलंकार ध्वनि-व्यञ्जना—इत्यादिका उद्गम और विकास आपके पद-पद और शब्द-शब्दसे टपक पड़ता है।

"कवि-जीवनी"

अष्टछापके श्रीसूरदास इत्यादि प्रातःस्मरणीय महाकवियोंकी भाँति भाषा-सम्राट श्रीनंददासजीका 'जीवन-वृत्त' भी अभी तक रूपमें सामने नहीं आया है। वह समयके धुँधले पर्देपर खेल रहा है फिर भी श्रीगोकुलनाथजीकृत वार्ता तथा उसपर श्रीहरिरायजीकृत "भाव प्रकाशिका" टीकाके अनुसार कहा जा सकता है कि आपका जन्म 'सोरों' (पुराण-प्रसिद्ध—शूकरक्षेत्र) के पास 'रामपुर' ग्राममें पं० आत्मारामजी शुक्ल सनाढ्य ब्राह्मणके घर सं० "१५ वि०" के आसपास हुआ था

आप कोसप्रवेश (निधन) "सं०—११०२ वि० में गोवर्धन —ब्रज । संप्रदाय-प्रवेशका समय भी सं०—११ ६ वि " कहा-सुना जाता है। अस्तु ये आपके जन्मादि-सूचक संवत् जब आपकी रचनाओंका अंतरंग-अनुशीलन करते हैं तो वे कुछ उचित प्रतीत नहीं होते—आगे-पीछे इधर-से जाते हैं किंतु जन्मादि-समय कुछ इधर उधर भले ही हो पर यह निश्चित-सा है कि आप "खोरी—रामपुर" के निवासी सनाढ्य ब्राह्मण [illegible]के पुत्र भाई प्रसिद्ध साहित्य-[illegible] थे गुलाबीरामजी तथा आपके पुत्र "कृष्णदास" थे—इत्यादि । हम यहाँ उपर्युक्त जन्मादि सूचक विवरणके साथ आपके पुरातन प्रशंसक "श्रीप्रयागदासजी" तथा "श्रीभुवनदासजी" की व सरस सूक्तियाँ [illegible] संकलन यहाँ कर रहे हैं जो उन्होंने श्रीवंशीधरजीके जन्मादिक प्रति ही नहीं उनके काव्यके प्रति भी कही हैं जैसे—

[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

—[illegible]

[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

—[illegible]

इत्यादि । [illegible]

यह यह कि जैसा ऊपर लिख आये हैं—"आप (नंददास) प्रसिद्ध "श्रीराम-चरितमानस'-रचयिता भक्त-प्रवर "गो० तुलसीदासजी"के छोटे भाई थे।" इस बातकी पुष्टि "भक्तमाल"-रचयिता नाभादासजीसे आदि लेकर अन्य सभी भक्त-जीवनी लेखकोंने की है। श्रीगोकुलनाथ-कृत 'वार्ता' तथा उसपर टीका-कर्ता श्रीहरिरायजी भी यही कहते हैं। साथ ही ये सभी पुष्टिकर्ता श्रीनंददासजीके सम-सामयिक भी हैं अतः उन्हें अपनी कल्पनासे झुठलाता हुआ आजका संकुचित हृदय साहित्यिक इसे स्वीकार नहीं करता! क्यों? इसका समुचित उत्तर उसके पास नहीं है। वह इन सत्य—समुचित साक्षियोंको न मानकर बिना आधारके अपनी असत्य-मान्यताको प्रश्रय देता चला आ रहा है।

"भ्रमर-गीत"

भ्रमर-गीत एक विरह-विभूषित काव्य-कथाका विषय है किंतु इसे विशेष-रूपसे भक्ति, शृंगार और करुण रसोंका रम्य आगार, निर्गुण-सगुण उपासना-तत्त्वोंका प्रभावशाली विस्तृत सागर तथा ज्ञान-भक्तिका अक्षय भंडार भी कहा जा सकता है। कारण भक्त-कवियोंने जहाँ इस "रेख दुर्लभ" विषयके सहारे "अशोकमलमलसिद्धिः"-रूप 'मुक्ति-चतुष्टय' जैसे महान् पदार्थोंको ठुकराकर अपने उपास्यसे "बिरहीबिलासे" की याचना की है वहाँ 'रीति-कवियों' ने इस विषयके द्वारा शृंगार रसको पूर्ण बनानेका अनुपम उपक्रम किया है। अस्तु, जैसा पूर्वमें कहा है इसका मूल-कथानक "श्रीमद्भागवतमें" इस प्रकार है—

व्रजमें जब अपनी अनेक रस-भाव-भरी ललित लीलाएँ रचकर—"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं" शूर कंसके बुलानेपर अक्रूरके साथ निष्ठुर आतापत हो मथुरा पधारे और कंसादिक-असुरोंका संहार कर अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवजीको बंदी-गृहसे छुड़ा, महाराज उग्रसेनको पुनः मथुराकी राजगद्दीपर बैठाल दिया तब आपने बिछुड़े उन प्यारे व्रजवासियों तथा "प्रेमपुञ्ज-स्वरूपणी" व्रज-ललनाओंकी याद आयी जिन्होंने—

‘‘संस्थाय सर्वविद्याश्रय पादमूलं’’
इस मूल-मंत्रको सिरोधार अपनाकर अपने जीवनको प्रभुपर उत्सर्ग कर दिया था अतः तद्भाव-विभोर होकर आपने—

‘‘वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥’’

—भा० १० । ४६ । १

को इन लोगोंके मामस्वभार्थ वा अपने इस निर्गुणवादी नये सखाको अपने-जैसा रस-भावुक बनाने और ज्ञान-गर्वके उद्धवको पुनीत प्रेममें परिणत करनेके लिये ब्रज भेजा । अतः ब्रज पहुँचकर श्रीउद्धवने पहले बाबा श्रीनंद और माता यशोदा तथा ग्वाल-बालोंके साथ मिल कर उन्हें भगवान् श्रीकृष्णका प्रिय संदेश दिया । उसके बाद आप ब्रजबालाओंसे मिले और उन्हें आप मानापमानके ज्ञानादिके कथन करनेको प्रिय-संदेशकी मिसरीमें मिलाकर पिलाना चाहा तो बात बढ़ गयी फलस्वरूप ज्ञान और भक्तिका मधुर्यमय संवाद चल पड़ा । जब वह जय-पराजयकी गुफामें इधर-उधर भटक ही रहा था कि कहींसे उड़ता हुआ एक रस-लम्पट भँवरा जो अपने रूप-गुणोंके कारण गोपियोंको कृष्णके समान जैसे—

भौंरी मन घनस्याम स्याम घनस्याम उतै दुति ।
वैसी गुंजन सुनि मधुप अरु मधुर मुरलि-धुनि ॥
पीत-रेख तन कटि-लसै इत पीताम्बर चारु ।
दिपि अ-बिन्दी दार रमन पदै रस सुभाय ॥

—कृष्ण रस के धनी

—वहाँ आ पहुँचा और विरह-विकुलित ब्रज-वनिताओंके चरण-कमल-युगल समान पाद-पद्मोंपर गुन गुन करता हुआ बैठने अथवा उन्हें चूमनेको मँडराने लगा तो प्रेम-रस-विदग्ध गोप-कन्याओंके श्रीमुख खुल गये तथा इस उपस्थित प्रमादकी ओटमें छिपे प्रियतम कौन रखनेवाले मधुरिया कृष्णके प्रति जो-जो बीते फिर भी मधुरसे मधुरता तीर छोड़ गये यही ‘‘भ्रमर’

या 'भँवर गीत' के विषय रूपमें संगृहीत हुआ। अस्तु — 'अविरा नंददासजीने इस भागवत-वर्णित भ्रमर-रसकी सिकता भक्ति या प्रेम अथवा ज्ञानके विस्तृत चौगानमें ज्ञानी उद्धव और प्रेम-योगिनी गोपियों-द्वारा निर्गुन-सगुनकी गोटीसे खेले गये इस खेलको अपने ढंगसे अपनाया और उसे बेहद सजाया—वर्ण-विन्यासके हृदयहारी करखोंसे तोल-तोलकर मधुर्य सरस बनाता इस अनोखी भाँतिसे प्रस्तुत किया कि वह सबके गुणीके हृदयोंका हार बन गया।

संपादन कथा

इस प्रेम कपोटे मदपटे' मध्य भावोंसे भरे भ्रमर-गीत -संपादन प्रकाशनकी भी अनेक दुःख-सुखोंमें पगी एक विस्तृत कथा है जिसे चिर प्रेक्षित प्रकाशकके समय कहना नहीं चाहता फिर भी उस गौड़-गद्दीकी अवगम-कथाके प्रति इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि 'श्रीनंददासजी'के इस गुणमालाके प्रथम प्रकाशन आज दो युगोंके बाद हो रहा है। प्रेस आपी वर्षों इधर-उधर अनेक मान्य विद्वानोंके करकमलोंमें खेलती हुई उनके सद्-विचारोंसे भी अवगुम्फन और पल्लवित होती रही। इन मान्य महानुभावोंमें पहलेके 'बाबूजी' और अबके 'राजर्षि' श्रीपुरुषोत्तमदासजी टंडन, श्रीहरिभाऊजी उपाध्याय पंडितवर श्रीसाबरमल शर्मा तथा डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल प्रमुख हैं अतः संपादक—

अन्ये चापि महाप्राज्ञाः महात्मा प्रेम-निर्जितौ।
ते सर्वे गुणसीदंतु नाम्ना न स्मृता मम:॥

के साथ इनका भक्ति भरी है। साथ-ही परम भक्त विद्वद्वर श्रीहनुमान प्रसादजी पोद्दार संपादक—'कल्याण' जिन्हें हम जैसे क्षुद्र लोग प्रेम-वश 'भगवान' बनानेके लिये 'भाईजी' कहा करते हैं के भी अति आभारी हैं जिन्होंने अनेक-बार कष्ट उठाकरके सहकर आपके गुणमिश्र ग्रन्थ— 'गीताप्रेस'में मुद्रित करा सुन्दर रूपमें प्रकाशित किया है।

संपादनकी आधार-भूत पोथी हस्त लिखित तथा मुद्रित प्रतियोंका कैसा योग भी आज प्रकाशनके समय स्मृति-पटलमें ओझल हो गया है

जिसका हमें खेद है। न मालूम कितने स्थानोंमें अमूल्य हस्त-लिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ एकत्रित की गयी थीं। उनमें डाग प्रेस— भरतपुर-राज्य पुस्तकालयकी सबसे प्राचीन और शुद्ध प्रति तथा बा॰ राधाकृष्णदास संपादित "हरिश्चंद्र-चंद्रिका" में छपा था बालमुकुंद गुप्त संपादित 'भारत-मित्र' प्रेस कलकत्तासे प्रकाशित प्रतियोंको नहीं भुलाया जा सकता। अंतिम दोनों व्याकरणीय मुद्रित प्रतियाँ ब्रजभाषाके माधुर्यसे—व्याकरणसे भ्रष्ट हैं फिर भी ग्रहण-योग्य हैं क्योंकि आप लोगोंने इसे मुद्रणका अशुद्ध पिसाकर विकृत-रूपमें नहीं —जीवित रक्खा है। साथ-ही संपादक उन महानुभावों कवियों तथा ग्रंथ-रचयिताओंका भी बहुत-बहुत ऋणी है जिनकी कोमलकांत पदावलियों एवं विद्वत्तापूर्ण विचारोंसे विभूषित कर इसे इतना पल्लवित किया गया है। और अंतमें यह भी कि मुद्रणसे पूर्व प्रम-कापी देखनेमें न आयी सो न आयी। प्रूफ भी विशेषकर अंतिक तीन फार्मोंका जिनमें मूल छपा है तब देखनेमें आया जब संपादक अधिक रुग्ण था अतः उसमें गलतियोंका रह जाना कोई आश्चर्य जनक नहीं। उदाहरणके लिये पृ — १५" पर मूलकी अंतिम पंक्ति सुनौ मैंद-आदिकैं' के स्थानपर "सुनौ मैंद-म्यक्तिनैं' तथा पृ —८१ पं ११—२१ चौंथी" के स्थानपर— तैयों' तथा इसी भाँति पृ०—२२१ प —७ पर ह्वै हिगुनी के स्थानपर ह्वै हिगुनी" छप गया है। इस प्रकारकी और भ्रांतियाँ भी होना संभव है अतः संपादक उनके लिये क्षमा प्रार्थी है विज्ञ-पाठक उन्हें उचित रूपमें परिष्कृत कर लेंगे ऐसी आशा है।

मथुरा
'राम-नवमी'
संवत् २०१० वि०

—जवाहरलाल चतुर्वेदी



अनुक्रमणिका



उद्धृत पद-सूची

श्रीहरि

उद्धृत पद्य-सूची



"संस्कृत"

/ ′

उद्धृत पद-सूची

"हिंदी"

भ गी ग—

उद्धृत पद-सूची

"उर्दू"



श्री

भ्रमर-गीत

(महा-कवि 'नंददास' प्रणीत)

१

ऊधौ कौ उपदेस सुनौं ब्रज-नागरी ।
रूप, सील, लावन्य सबै गुन आगरी ॥
प्रेम धुजा रस-रूपनी, उपजावँन सुख-पुंज ।
सुंदर-स्यौम-बिलासिनी, नव बृंदावँन कुंज ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

२

कहँन-स्यौम-संदेस-एक मैं तुम्ह पै आयौ ।
कहत समैं संकेत कहूँ औसर नहिं पायौ ॥
ाचत-ही मन मैं रह्यौ, कब पाऊँ इक-ठाँउँ ।
ाहि-संदेस नँदलाल कौ, बहुरि मधुपुरी जाँउँ ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

३

सुनति स्याँम कौ नाँम, बाँम, घर की सुधि भूलीं,
भरि आँनद-रस हृदै, प्रेम-बेली-द्रुम-फूलीं ।
पुलकि-रोंम सब अँग भए, भरि आए जल-नैंन,
कंठ घुटी गद-गद-गिरा बोले आत न बैंन ॥
—बिवस्था-प्रेम की ॥

४

अरघासँन बैठाइ चौहोरि-परिकंमा दीन्हो,
स्याँम-सखा-निज-जाँनि, बहोत हित-सेवा कीन्हीं ।
बूझति सुधि नँदलाल की, बिहँसति-मुख ब्रज-बाल,
नीके हैं बल-बीर जू, बोलत-बचँन-रसाल ॥
—सखा सुन स्याँम के ॥

५

कुसल स्याँम औ राँम, कुसल संगी सब उन्हके,
जदु-कुल सिगरे कुसल, परँम आँनद सबँन्ह के ।
पूछँन-ब्रज-कुसलात कौं, हौं आयौ तुँम्ह-तीरे,

पाठान्तर—
१—१ (क) सुनत स्याँम कौ नाम बाँम घर की सुधि भूली ।
(ख) सुँनति स्याँम की नाँम बाँम गृह की सुधि भूली ।
—अति हुलस[1] ।
४—२ (ग) सखा-स्याँम कौ जानि बहुरि सेवा पुनि कीनी ।
५—३ (घ) में पठयौ तुम्ह ।

मिलि हैं थोर-दिनैंन मैं जिन्ह जिय होहु अधीर ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

६

सुनि मोहँन-संदेस, रूप-सुमरँन ह्वै आयौ,
पुलकित आँनन-कँमल, अंग आवेस जनायौ।
बिह्वल ह्वै धरनीं परीं, ब्रज-बनिता मुरझाइ,
दै जल-छींट-प्रबोध-कीं, ऊधौ-बैंन-सुनाइ ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

७

व तुम ते नहिं दूरि, ग्याँन की आँखिन-देखौ,
अखिल-बिस्व-भरपूर, रूप सब उनहिं बिसेखौ।

पाठान्तर—

१—१ (ग) सुनत स्याम कौ नाम
(घ) मोहन-सुनि संदेस " " "
२ (क) पुलकत आनन-कमल "
अथवा—
(ग) पुलकत आनन अंग-अंग आवेस जनायौ।
(घ) " अंग सकल "
३ (क) ऊधव-बात सुभाय
४ (घ)—प्रेम जुत स्याम दै।
७—५. (ग) (घ) (च) सब में रूप बिसेखौ
अथवा—
(ट) सब सब रूप बिसेखौ

लोह, दारु, पासौंन में, जल, थल, मही, अकास,
सचर अचर बरतत सबै, जोति-ब्रह्म-परकास।
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

८

कौन ब्रह्म, को जाति, ग्यौंन कासों कहैं ऊधौ, !
हमरे सुंदर-स्याँम, प्रेम कौ मारग-सूधौ।
नैंन, बैन, स्रुति, नासिका मोहैंन-रूप लखाइ,
सुधि-बुधि-सब मुरली-हरी, प्रेम-ठगोरी लाइ॥
—सखा, सुन स्याँम के॥

९

ये सब सगुंन उपाधि, रूप-निरगुँन है उँन्ह कौ,
निरबिकार, निरलेप, लगत नहिं तीन्हों-गुँन्ह कौं।
हाथ-पाँइ नहिं नासिका, नैंन, बैन नहिं कांनं,
अच्युत जोति प्रकास हीं, सकल बिस्व के प्रांन॥
—सुनों, ब्रज-नागरी॥

पाठान्तर—

१—१ (क) प, इ, ग—सगुँन सबै उपाधि रूप-निरगुँन है उनकौ ...

२ (ख) निराकार निर्लेप, लगौ ना तीनौं-गुन कौ।

३ (ग) पाँइ न हाथ न नासिका नैंन बैन नहिं कान

४ अच्युत ज्योति प्रकासिका सबै बिस्व के प्रांन।

अथवा—

ज्योति-हि-ज्योति प्रकास है अखिल बिस्व के प्रांन।

१०

जो मुख नाहिंन हुतो, कहौ किन्ह माँखन-खायौ,
पाँइन-बिन गो-संग कहौ, बन-बन को धायौ ।
आँखिन में अंजन दियौ, गोवरधन लियौ हाथ,
नंद-जसोदा पूत हैं, कुँवर कान्ह ब्रज-नाथ ॥
—सखा, सुन स्याँमके ॥

११

जाहि कहौ तुम्ह कान्ह ! ताहि कोउ पिता न माता,
अखिल-अंड-ब्रम्हंड सकल उन्ह-हीं सों जाता ।
लीला कौ अवतार लै, धरि आए तँन-स्याम,
जोग-जुगति ही पाइए, परब्रम्ह-पुर-धाँम ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

पाठान्तर—

११—१ (क) (ख) कहौ जाहि तुम कान्ह
ताहि कोउ पितु नहिं माता ।
२ (ग) सकल अंड ब्रम्हंड बिस्व उनहीं तें जाता
अथवा—
(ग) सबै अंड ब्रम्हंड-लोक उनहीं सौं जाता
३ (ग) जुगति जोग की पाइयै पारब्रम्ह पद-धाम ।
अथवा—
(क) (ख) जोगै-जौगै पाइयत परब्रम्ह-पद-धाम

१२

ताहि बताऔ जोग, जोग ऊधौ जहाँ पावौ,'
प्रेम-सहित हँम-पास, नंद-नंदँन-गुँन गावौं'।
नैंन, बैंन, तँन, प्राँन में, मोहँन-गुँन रह्यौ पूरि,'
प्रेम-पियूषै छाँड़िकैं कौंन समेटै धूरि ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

१३

धूरि धुरी जो होइ, ईस क्यों सीस-चढ़ावै,
धूरि-छेत्र में आइ, करँम-करि हरि-पद पावै।
धूरहिं ते यै तँन भयौ, धूरहिं तें ब्रह्मंड,
लोक-चतुरदस पूरि ते, सात-दीप नौ-खंड ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी

१४

करँम-धूरि की बात, करँम-अधिकारी जाँनैं।
करँम धूरि क्यों आँनि, प्रेम अंमृत में साँनैं॥

पाठान्तर—

११—१ (क)(ख) ताहि बतावौ जोग
जोग ऊधव जेहि पावै
२ ,, प्रेम-सहित जो पास स्याम-सुंदर गुन गावै.
३ (६) नैन बैन मन प्रान में मोहन-गुन भरि-पूरि
१२—७ (क)(ख)(ग) लोक—चतुरदस पूरि तें, सप्त-दीप नव-खंड।

तब हीं लों सब करम हैं, जब लों हरि उर नाहिं ।
करँम-बंध सब बिस्व के, जीव बिमुक्त ह्वै जाहिं ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

१५

करँमहिं निंदौ कहा ? करँम सों सदगति होई ।
करँम-रूप ते बली नाहिं, त्रिभुवँन में कोई ॥
करँमहिं ते उतपत्ति है, करँमहिं ते सब नास ।
करँम-कर ते मुक्ति होइ, परब्रम्ह-पुर-बास ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

१६

करँम पाप औ पुन्य, लोह-सोंने की बेरी ।
पाँइन परँन दोऊ, कोऊ मानों बौहतेरी ॥
ऊँच करँम ते सरग है, नीच-करँम ते भोग ।
प्रेम बिनों सब पचि मरे, बिषै-बासनाँ-रोग ॥
—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१५—१ (ग) (६) तुम कर्महिं कम निन्दत काकी सद्गति होई
अथवा—(ङ) (च) कस तुम कर्मी निन्दति सद्गति जाकी होई ।
अथवा—(ज) तुम निन्दति का कर्म सद्गति जाते होई ।
२ (ग) (ज) बली कम तें नाहिं कहो त्रिभुवन में
३ ,, कम किए तें मुक्ति है पारब्रम्ह-पुर-बास ।
१६—४ (क) (ग) बिनों प्रेम सब पचि मुए बिषय बासना-रोग
अथवा—(च) बिना प्रेम पचि सब मरें

१७

करम बुरे जो होहिँ, लोग क्यों फिरि कोउ धारैं।
पद्मासन सों हारि-रोकि, इंद्रिन कौं मारैं॥
ब्रह्म-अगिन सों सुद्धि ह्वै, सिद्धि-समाधि लगाइ।
लीन होइ सायुज में, ज्योति-हिँ-ज्योति समाइ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी॥

१८

जोगी जोगहिँ भजै, भक्त-निज-रूपहि जानि,
प्रेम-पीयूषहिँ प्रगट, स्याम-सुंदर-उर-आनि।
निर्गुन गुन जो पाइये, लोग कहैं ये नाँहि,
घर आयें-नाग-न-पूजिये, बाँमी-पूजन जाँहि॥
—सखा, सुन स्याम के॥

पाठान्तर—

१७—१ (ग) (घ) कर्म बुरी जो होइ लोग काहे जोग धारै,
अथवा—(क) (ग) बुरे करम जो होहिं लाग काहे जोग धारै
२ पद्मासन सब हार-मूँदि इन्द्रिन क्यों मारै।
३ (क) ब्रह्म-अग्नि-जरि सुद्ध ह्वै
४ (क) होइ लीन सायुज्य में जोती जोति अवगाइ।
१८—५ (ख) (ङ) (ग) जोगी जोतिहि भजै भक्त निज रूपै जानैं।
अथवा—(क) (ङ) (च) जोगहिं जोगी भजहिं भक्त निज रूपहिं जानैं।
६ (क) (ख) नाग न घर आयें पुजै पुनि बाँबी पूजै जाहिं।

१९

जो हरि के गुँन होंहिं, मद क्यों नेति-भरवाँनें,
निरगुँन, सरगुँन, आतमाँ कहि उपनिपद सु गाँनें ।
वेद-पुराँनन-खोजि कें, नहिं पायौ गुँन-एक,
गुँन-ही के गुँन होंइ जो, कहि अकास कहँ टेक ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२०

जो उन्ह कें गुँन नाहिं, और गुँन भए कहाँ तें,
बीज बिनाँ तरु जमें हँमें तुँम्ह कहाँ कहाँ तें ।
वा गुँन की परछाँहिं-री माया-दरपँन-बीच,
गुँन तें गुँन न्यारे नहीं, अमल-बारि ज्यों कीच ॥
—सखा, सुन स्याम के ॥

पाठान्तर—

१९—१ (न) (प) जो उनकै गुन नाहिं वेनि क्यों वेद-बखानें

अथवा—(ज) गुन उनकै जो नाहिं - - -

२ „ निरगुन सगुन आत्मा रचि ऊपर सुख-सानें

३ „ जो गुन ही के होइ गुन, कहु अकास किहिं टेक ।

२०—१ (क) गुन जिनिहें जो नाहिं भए गुन आर कहाँ तें

२ (क) बिना बीज तरु जमैं नाहिं गुन कहन कहाँ तें ।

अथवा—(प) बीज बिना तरु जमैं मोहिं तुम कहा कहाँ तें ।

६ (प) गुन तें गुन भए कहूँ ज्यों अमल-वारि बिनि कीच

२१

माया के गुँन और, और गुँन हरि के जानौं,
उँन्ह गुँन कौं इन्ह माँहि आँनि काहे कौं सानौं।
जाके गुँन औ रूप कौ, जाँनि न पायौ भेद,
तासौं निरगुँन-ब्रम्ह कौं, बदत उपनिखद-बेद ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

२२

बेदहु हरिके रूप, स्वाँस-मुख सौं जो निसरे,
करँम-क्रिया-आसक्ति सबै पिछली-सुधि बिसरे।
करँम-मध्य ढूँढति सबै, तिन्ह-हूँ न पायौ देखि;
करँम-रहित ही पाइये, तासौं प्रेम-बिसेखि ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

२३

प्रेम जु कोइ बस्तु, रूप देखत लौं लागै,
बस्तु-दृस्टि-बिन कहाँ, कहा प्रेमी अनुरागै।

पाठान्तर—

२१—१ (ख) तातैं निरगुन ब्रह्म कहि बदैं उपनिषद-बेद ॥

२२—२ (ख) (ग) (घ) बेद जु हरि के रूप स्वाँस-मुख तैं निसरे

३ करम-मध्य ढूँढ़ैं सकल तऊ न पायौ देखि

४ (ख) (ङ) (घ) कर्म-रहित है पाइयें तातैं प्रेम-बिसेखि।

२३—५ (ख)(ग)(ङ) प्रेम न कोउ बस्तु जु देखत ही कछु लागै

अथवा—(ङ) प्रेमहि ना कोउ बस्तु,

तरनि-चंद्रके रूप कौ गुन नहिं पायौ आँने,
तौ उनकौ कहा जानिऐं, गुनाँतीत-भगवाँन ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

२४

तरँनि, अकास-प्रकास, आदि मैं रहौ दुराई,
दिव्य-दृष्टि-बिन कहौ कौन पै लख्यौ आई ।
जिनकें वे आँखें नहीं, न्यें क्यों वै रूप,
तिन्ह साँच क्यों ऊपजै, जे पर करँम के कूप ॥
—सखा, सुन स्याँम के ॥

२५

वे करिए नित करँम, भक्ति हू आमें आई,
करँम रूप तें कहौ कौन पै लख्यौ जाई ।

पाठान्तर—

१ (ड) तरन-चन्द्र के रूप कौ नहिं पायौ गुन जान।
२ (घ) उनकौ तौ जानै कहा गुनातीत भगवान ॥
अथवा—(भ) जानैं उनकौं कौन कहा — — — —

२४—३ (भ) (घ) तरनि प्रकाश अकास तेज मैं रह्यौ दुराई
४ „ दृष्टि-दिव्य बिनु नाहिं काहू पै देख्यौ जाई ।
५ जिनकी वे आँखें नहीं कहा देखैं वह रूप,
६ क्यों उनकौ विस्वास जु परे कर्म के कूप ।

२५—७ (भ) (ट) (द) जब करिवै नित कर्म
अथवा—(क) (क) करिवै नित वह कर्म

क्रम-क्रम करँम-हिं किऐं तें करँम-नास ह्वै जाँई,
तब आतम निहकरम सों निरगुन-ब्रम्ह समाइ ॥
—सुनों, ब्रज-नागरी ॥

२६

जा हरि के नाहिं करँम, करँम-बंधन क्यों आवैं,[1]
तौ निरगुन ह्वै बस्तु मात्र, परमाँन बतावै ।
जो उन्ह कौ परमाँन है, तौ प्रभुता कछु नाहिं,[2]
निरगुन भए अतीत के, सगुन सकल जग माहिं ॥
—सखा, सुन स्याँम के ।

२७

जे गुन आवें द्रिष्टि माँहिं नस्वर ते सारे,[1]
इन्ह सबहिन तें बासुदेव अच्युत हैं न्यारें ।

पाठान्तर—

१ (क) (ख) क्रम-क्रम कर्म किये तें नास करम है जाइ ।
२ आतम तब निष्कर्म ह्वै ब्रम्हहि-ब्रम्ह समाइ ।
२६—३ (क) (घ) हरि कै जो नहिं करम करम-बंधन क्यों आवौ
४ तौ निरगुन इक बस्तुमात्र परमान बतावौ ।
५ „ उनकौ जदि परमान है प्रभुता फिरि कछु नाहिं
२७—१ (ट) (घ) गुन आवैं जो द्रष्टि माँहिं ते नस्वर सारे
२ (ट) (छ) इन सब ही तें बासुदेव अच्युत हैं न्यारे ।

इंद्री-दृष्टि-विकार ते रहित अधोछज-जाति,[1]
सुद्ध-सरूपी-ग्यान की प्रापति तिन्ह कौं होति[2] ॥
—सुनौं, ब्रज-नागरी ॥

२८

नास्तिक हैं जो लोग, कहा जानैं निज रूप,[3]
प्रगट भानु कौं छाँड़ि गहैं परछाँहीं धूप।
हम कौं तौ वा रूप बिन और न कछू सुहाइ,
ज्यौं करतल आमास कै कोटिन ब्रह्म दिखाइ ॥
सखा, सुनि स्याम के ॥

२९

एसे मैं नँदलाल-रूप नैनन कै आगैं,
आइ गयौ छबि-छाइ, बने अरु पियर बागैं।
ऊधौ सौं मुख मोरि कैं, कहति तिन्हहि सौं बात,
प्रेम अँमृत मुख सौं स्रवत, अंबुज-नैन-चुचात ॥
—बरक रस-रीति की ॥

पाठान्तर—

१ (इ) (ग) इन्द्रिय-दृष्टि-विकार तें परे अधोछज-जाति
२ सुद्ध सरूपी जानि जिय पूरित ह्व तातें होति।
२८—३ (ग) (घ) हैं नास्तिक जो लोग न जानत कछु वह रूपै
अथवा— (क) जो नास्तिक हैं लोग कहा जानत हित रूपै
४ हम को बिनु वा रूप के कछु न और सुहाई
५ ज्यौं करतल आमलक के प्रत्र-दि-मत्र दिखाइ।
२९—६ (इ) (ग) आइ गए छबि-छाइ बने पीरी पट बागे
७ „ ऊधव तें मुख-मोरि कै बैठि मधुप कहि बात

२०

अहो नाथ, अहो रमानाथ, जदुनाथ, गुसाँई,[1]
नंद-नँदन बिछुराति फिरति तुँम्ह बिन सब गाँई[2]।
काहे न फेरि कृपाल है, गो-ग्वालँन सुख देहु,[3]
दुख-जलनिधि हम बूड़िहीं, कर अवलंबँन-लेहु[4]॥
—निठुर है का रहे !

२१

काहू कहै, अहो दरस देति पुनि लेति छिपाई,[5]
यै छल-विद्या कहौ कौन पिय ! तुम्हैं सिखाई[6]।
हम परबस आधीन हैं, ता सौं बोलत—दीन,
जल बिन कहौ कैसैं जिएँ, पराधीन ज्यौं मीनँ॥
—बिचारौ रावरे !

पाठान्तर—

२०—१ (क) अहो नाथ ! रमानाथ और जदुनाथ गुसाँई,
२ नन्द नँदन बिछुराति सकल तुम बिनु बन गाँई।
३ काहे न फेर कृपाल बन गो-ग्वालन-सुधि लेहु
४ (ग) दुख-जल-निधि सब बूड़हीं कर अवलंबन देहु।

२१—५ (घ) (ङ) कोउ कहै क्यों दरस देति फिरि लेति छिपाई
६ छल-बल-बिद्या कहौ कौन पिय तुम्हैं सिखाई।
७ ,, जल-बिनु कहाँ कैसैं परमातुर है मीन।
अथवा—(प) बिनु जल कैसैं कछु जिएँ, गहरे-जल की मीन।

३२

कोउ कहै, पिय दरस देहु औ बैन बजावौ,
दुरि दुरि बन की ओट, कहा हिय लौन लगावौ।
हम कों पिय तुम एक हौ, हम-सी तुम्ह कों कोरि;[1]
बहुतक की रावरे! प्रीति न डारौ तोरि[2] ॥
—एक ही बार यौं ॥

३३

कोउ कहै, अहो स्याँम! कहा इतराइ गए हौ,
मथुरा कौ अधिकार पाइ, महाराज भए हौ।
ऐसें कछु प्रभुता अहो जानत काऊ नाहिं,[1]
अबला-बध सुनि डर गए, घटी जगत के माँहिं ॥
—पराक्रम वाँनि कें ॥

पाठान्तर—

३२—१ (अ)(ब) कोउ कह पुनि दरस देहु पिय बैनु-बजावौ
अथवा— (ग) कोउ कहै अहो दरस देहु पुनि बैनु-बजावौ
२ हम कौं तुमसे एकु हौ तुमकौं हमसी कोरि
३ (घ) बहुत भाँतिके रावरे! की प्रीति न डारा तोरि।
३३—१ (ग)(ग) कोउ कहै कहा स्याम! कहा इतराइ गये
ऐसी कछु प्रभुता हुती जानत कोउ नाहिं
अथवा— (घ) कछु ऐसी प्रभुता कौ कहा कहत जगत कोउ
अथवा— (ङ) ऐसी ना प्रभुता कछु अहो कहत कोउ नाहिं
२ अबला-बधि हम डर गए घटी रहै जग-माहिं।

३४

कोइ कहै अहो स्याम ! चँहत मारँन जो ऐसें,
गिरि-गोवरधँन-धारि करी रच्छा तुम कैसें।
ब्याल-अनल बिष-ज्वाल तें, राखि लई सब-ठौरें;
अब बिरहानल दहत हौ, हँसि-हँसि नंद किसोरें ॥
—चोरि चित लै गयौ ॥

३५

कोइ कहै ए निठुर, इन्हें पातक नहिं ब्यापैं,
पाप-पुँन के करँनहार ए आप हि-आपैं।
इन्ह के निरदै-रूप में, नाहिँन कोइ-चित्र;
पै-प्यावत-प्रौनन-हरे, पुतनाँ बाल-चरित्रं ॥
—मित्र ए कौन के ?

पाठान्तर—
३४—१ (क) (ख) कहै कोऊ अहो स्याम चँहत जो मारन ऐसें
२ गोवरधन-कर-धारि करी तुम रछा कैसें।
३ (ख) (ट) ब्याल-अनल की ज्वाल सौं कढ़ राखि सब ठौर
४ बिरहानल अब दाहि हौ ... ... ।
अथवा— (ग) बिरह-अनल अब दाहि हौ
३५—५ (क) (ट) पाप-पुन्य के करनहार ये हौ हैं आपै
६ इनकै निरदय रूप मैं नाहिँन कछु विचित्र
७ पय पीवत ही पूतना मारी बाल-चरित्र।

३६

कहइ कोई री, आजु नाहिं आगें चलि आई,
रामचंद के रूप माहिं कीन्हीं निठुराई।
जग्य करावन जात है विश्वामित्र समीप;
मग में मारी तारका रघुबंसी—कुल-दीपै ॥
—बाल-हा रीति यै ॥

३७

कहइ कोई, ए परम-धरम स्त्री-जित पूरे,
लघु-लाघव-संधान धरें आयुध अति सूरे।
सीताजू के कहे ते, सूपनखा पै कोपि;
छेदे-अंग विरूप करि, लोगन-लज्जा-लोपि ॥
—कहा वाकी कथा !

पाठान्तर—

३६—१ (अ)(क) रामचंद्रके परम-रूप में ही निठुराई,
२ ,, मख-राखन बन जात है विश्वामित्र समीप;
३ मारी मग में तारिका रघुबंसी-कुलदीप
४ ,, —प्रथम ही रीति यह।
३७—१. (अ)(ड) कोउ कहत परम-धरम इन्द्रीजित पूरे
२ (ड) लाघव-लघु-संधान धरें आयुध के सूरे।

विशेष—

संगीतमें उन्नीसवीं दो मूर्तियों (२ ४) के पाठान्तर और मिलते हैं— "इन्हीं वाणि-धनरूप बाण आयुध ही पूरे" तथा "तब लछमन के बाण तें करी-नासिका छेदि" आदि पर वे पाठान्तरोंके अनुसार भिन्न हैं—कथानक के विरुद्ध पड़ते हैं शब्द-संघटनमें भी विपरीत हैं किन्तु पाठक विचारें।

३८

कोइ कहै री, और सुनौं गुन इनह के आली,
बलि-राजा पै गए भूमि-माँगन बनमाली।
माँगी बाँमन-रूप-धरि, परवत भए अकाइ;
सच, धरम सब छाँड़ि कैं, धार्यौं पीठ पै पाँइ॥
—लोभ की नाव ए!

३९

कोइ कहै, इनह परसराँम ह्वै माता—मारी,
फरसा-कंधा धारि भूमि-छत्रिंन्ह सघारी।
सौंनित-कुंड भराइ कैं, पोखे अपने पित्र;
इनह के निरदै-रूप मैं कछु-हू नाहिं बिचित्र॥
—बिलग कहा मानिये॥

पाठान्तर—

१८—१ (च) (भ) कोउ कहै अहो और सु ी इनके गुन आली
२ राजा-बलि पै गए भूमि-माँगन बनमाली।
३ (ग) माँगत बामन-रूप धरि मंपित करी कुदाय;
४ (प) सत्य धम इन छाँड़ि सब धार्यौ पीठ पै पाँव।

१९—५. (क) (ड) (ढ) इनके निरदयरूप मैं नाहिन कोउ चित्र

विशेष—

उक्त सत्ताईसवें छन्द्का अन्तिम चरण और पूर्वमें उद्धृत पैंतीसवें छन्दका तीसरा चरण—दोनोंका पाठ एक ही है।

४०

कोउ कहै री, कहा हिरँनकच्छप तें बिगरयौ,[1]
परम-दीठ-प्रहलाद, पिता के सनमुख झगरयौ ।
सुत अपने कों दति हो, मिच्छा-न्ड बँधाई;
इन्द्र बपु-धरि नरसिंघ कौ नखँन-बिदारयौ आइ ॥
—बिनौं अपराध ही ?

४१

कोउ कहै अहो, कहा दोष सिसुपाल नरेसै,[1]
ब्याह-करँन कों गयौ नृपति भीषँम के देसै[2] ।
दल-बल जोरि बरात कौं ठाढ़ौ हो छबि-धारि[3];
इन्द्र छल करि दुल्ही हरी, दुखित-प्राम-मुख कारि[4] ॥
—आपने स्वारथी ॥

पाठान्तर—

४०—१ (ख) (ग) कोउ कहै कछु कहा ? हिरनकच्छप तें बिगरयौ,
अथवा— (क) कोउ कह अहो कहा— " "
२ (ख) (ग) सुत अपने कौं देति हो मिच्छा नंध-बँधाइ
अथवा— (क) अपने सुत कौं देत हो मिच्छा दृढ़ बताइ

४१—१ (क)(ग) कोउ कहै सखि ! दोष कहा सिसुपाल-नरेसै
२ ,, परम-ब्याह हित गयौ नृपति-भीषम के देसै ।
३ जोरि-बटोरि बरात कौं ठाढ़ौ हो छबि-धारि।
४ (ग) छल-बल करि दुल्ही हरी ग्राम दुखित-मुखकारि

४२

या बिधि भर-आवेस, परँम प्रेंम-हिं अनुरागीं,[1]
और रूप, पिय-चरित तहाँ सब देखँन्ह लागीं।
रोंम-रोंम रह्यौ ब्यापि कें, मोंहँन-रूप-अनूप;[2]
तिन्ह के भूत-भविष्य कौ, जाँनैं कौंन सरूप[3] ॥
—रँगीली प्रेंम की ॥

४३

देखति इन्ह कौ प्रेंम, नेंम, ऊधौ कौ भाज्यौ,
तिमिर-भाव-आवेस, बौहौत अपने जिय लाज्यौं[4] ।
मन में कहि 'रज' पाइ कें ले माँथें निज धारि;
मैं तौ कृत-कृत ह्वै गयौ, त्रिभुवन आँनँद-वारि[5] ॥
—चंदनों सोम ए !

४४

कबहुँ कहै, गुन-गाइ-स्याँम के इन्हें रिझाऊँ,
प्रेंम-भक्ति तौ भलें स्याँमसुंदर की पाऊँ[6] ।

पाठान्तर—
४२—१ (क) यह बिधि भर आवेस परम-प्रेमी—अनुरागी
अथवा— (ख) इहि बिधि होइ आवेस अतुल-प्रेमी अनुरागी
२ (क) रोम-रोम रह्यो व्यापि कै जिनकें मोहन आइ
३ „ उनके भूत-भविष्य कौ जानत कोउ न सुराइ
४३—४ (ख) भाव-तिमिर-आवेस बहुत मन अपने लाज्यौ
५. „ परम-कृतारथ ह्वै रही आँनद-त्रिभुवन वारि।
४४—६ (ख) (ग) तातें प्रेमाभक्ति, स्याम-सुन्दर की पाऊँ

जा-विधि मो पै रीझि-हीं, सो हौं करौं उपाइ;
तातें मो-मन सुद्धि होइ, दुविधा-ग्याँन-मिटाइ ॥
—पाइ रस प्रेम कौ ॥

४५

ताही छिन इक भँमर, कहूँ ते उड़ि तहाँ आयौ,
ब्रज-बनितँन्ह के पुंज माँहिं, गुंजत छबि-छायौ ।
बैठ्यौ चाँहत पाँइ पै, अरुन-कँमल-दल जाँनि;
मँनु मधुकर ऊधौ भयौ, प्रथमहिं प्रगट्यौ आँनि ॥
—प्रेम कौ भेष-धरि ?

४६

ताहि भँमर तें कहति सबै प्रति-उत्तर-बातें,
तरक-वितरकँन्ह-जुक्त, प्रेम-रस-रूपी-घातें ।

पाठान्तर—

४४—१ (ख) (घ) जिहि विधि विधि प रीझिहो हौं सो करौं उपाइ।
२ जातें मन-को सुद्धि ह्वै दुविधा-ग्यान मिटाइ ।

४५—१ (घ) (च) ताही छिन एक भँवर कहूँ सौं तहँ उड़ि आयौ
४ „ चाँहत बैठ्यो चरन पर अरुन-कमल-दल जानि।

अथवा— (च) चाहत बैठन पद-कमल पै भुमत अरुन-दल जानि
५ मनु मन ऊधौ कौ तबै प्रगट्यो प्रथमहिं आनि ॥
६ —मधुप कौ भेष धरि ॥

४६—१ (क) ताहि भँवर सो कहैं सुघर प्रति-उत्तर-बातें

जिनि परसौ मम-पाँइ हो, तुम्ह-मानत हम-चोर;
तुम्ह-हीं सौ कपटी हुतो, नागर-नंद किसोर ॥
—यहाँ तें दूरि होउ ॥

४७

कोइ कहै अहो मधुप, तुम्हें लाज-हु नहिं आवत
स्वामी तुम्हरौ स्याम, कूबरी-दास कहावत ।
यहाँ ऊँच-पदवी हती, गोपी-नाथ कहाइ;
अब जदु-कुल पावन भयौ, दासी-जूठन खाइ ॥
—मरत कहा बोल कौं !

४८

कोइ कहै रे मधुप, कौन कहै तोहि मधुकारी,
लियें फिरत विष-जाग-गाँठि प्रेमी-मधकारी ।

पाठान्तर—

४६—१ (क) जिनि परिसै मो-पाँइ रे ! गयौ भौंवर-रस-चोर
२ तोही सम कपटी हतौ नागर-नंद-किसोर ।
४७—१ (ख) (ह) कोउ कहै री मधुप तोहि लाजौ नहिं आवतु,
२ , तेरौ स्वामी हरि ? कुबरी-दास कहावतु ।
अथवा—(ग) कहत कोउ रे मधुप तोहि लज्जा नहिं आवै
, सखा तिहारे स्याम ! कूबरी नाथ कहावै ।
अथवा—(ङ) स्वामी तुम्हरौ स्याम कुबरिया-दास-कहावै ।
४८—१.(क) कहत कोउ अहो मधुप कहौ तुम की को मधुकर,

रुधिर-पान कियौ बोहोत के अधर-अरुन-रँगराते;
अब ब्रज में आए कहा करैंन कौन-सी घात ॥
—जाय किन्ह पातकी ?

४९

काहू कहै री मधुप, भेष उन्ह को क्यों धारयौ,
स्याम, पीत, गुंजार-बेनु किंकिनि झनकारयौ।
या-पुर गोरस चोरि कें फिरि आयौ इहि देस,
इन्ह कौं जिन्ह मानौं कोऊ, कपटी इन्ह कौ भेस ॥
—चोरि जिन्ह जाइ कछु ॥

५०

कोइ कहै रे मधुप, कहा मोहन-गुन गावै,
इहै-कपट मों परम-प्रेम नाहिंन छवि पावै।

पाठान्तर—

४८—६ (क) पियें फिरत विष-गौंहि प्रेम-सिमि आपनी बेपरवर।

अथवा—(ख) ज्यों फिरत मुग्ध जोग-गोंहि कारन बेकरी।

अथवा—(ग) फिरत क्यों अति जोग-गौंहि, कारन हु क्वारी।

विशेष—

यह छन्द (क) प्रतिमें (५२) नंबर पर और (ख) (ग) में चौवन (५४) नंबर पर है।

४९—१ (ग) या पुर को रस चोरि कैं आयो फिर इहि देस

विशेष—

यह छन्द (ख) प्रतिमें अड़तालीस नंबर पर और (ग) में इक्यावन नंबर पर है।

५०—२ (ख) (ग) कोउ कहै क्यों मधुप! कहा गुन-मोहन-गावौ

२ „ कपट-हृदय सों नाँहि परम प्रेमिन-छबि पावौ।

चोंनति हाँ सब-भाँति कै, सरबसु लियौ चुराइ;
ऐसें कछु ब्रज-बासिनी, को जु तुम्हैं पतियाइ ॥
—छहे सब जानिकैं ॥

५१

कोउ कहै रे मधुप, कहा तू रस की जानें,
बोहोत कुसुम पै बैठि, सबै आपुन-रस मानें ।
आपुन-सी हम कौं कियौ चाँहति है मति-मंद;
दुबिधा-रस उपजाइ कें, दुखित-प्रेम-आँनंद ॥
—कपट के छंद सों ॥

पाठान्तर—

१ (क) (ग) हौं जानति हरि भाँति कै सब मधु लयो चुराइ;
अथवा—(ख) जानति हौ हरि भाँति सब सरबसु लियौ चुराइ;
२ (क) (ग) ऐसैं कछु ब्रजबासिनी को जु तुमैं पतियाइ ।
अथवा—(ख) ए बौरी ब्रजबासिनी नाहिं तुम्हें पतियाँइ ।
३ —कपे हम जानिकैं ।
५१—१ (ख)(ग)(घ) कोउ कहत कहो मधुप नाहिं तू रस कौ जानत
५. „ बहु कुसुमन पै बैठि सबै सम-रस करि मानत ।
अथवा—(क) (घ) अमित कुसुम पै बैठि सबै आपन रस मानैं ।
अथवा—(ड) —बहुत कुसुम पै बैठि-बैठि सबही सम मानैं ।
३ (ख) (ग) आपुन सी हम की कियौ चाँहत तू मति-मंद;
अथवा—(क) आप सरीखी हमकौ कियौ चाँहत क्यों मति-मंद;
४ „ दुबिध-स्याम उपजाइ चित दुखित प्रेम-आनंद ।
अथवा—(घ) स्याम-दुबिध उपजाइ मन धारि प्रेम के फंद ॥

विशेष—

पचासवाँ छन्द (ख) प्रति में इक्यावन नंबर पर और इक्यावन नंबर वाला पचास नंबर पर है इसी तरह (क) प्रति में पचासवाँ छप्पन नंबर पर और इक्यावनवाँ सत्तावन नंबर पर उद्धृत है ।

५२

कोउ कहै रे मधुप, नाँहिं पट-पद-पसु दरस्यौ,[1]
अबलौं या ब्रज-दस माँहिं कोउ नाहिं बिसेस्यौं[2] ।
द्वै-सिंग आँनन-ऊपरैं, कारौ, पीरौ—गात;[3]
खल अमृत सम मानहीं, अमृत—देखि डरात ॥[4]
—याद ये रसिकता[5] ॥

५३

कोउ कहै र मधुप, बाँहत निरगुन इन्ह आन्यौं,[1]
तरक-वितरकँन जुक्ति बाँहत उन्ह-ही मे मान्यौं[2] ।

पाठान्तर—

५२—१ (ख)(घ) कोउ कहै अहो मधुप षैम-पद की सुन देख्यौ
अथवा—(ग) कोउ कहत रे मधुप षैम-पद-पद-पसु देख्यौ
अथवा—(च) कहै कोउ अहो मधुप कहूँ पसु षट-पद देख्यौ
२ „ अब लौं यहि ब्रिज्र माँहि कोउ नाहि बिसेख्यौ।
३ वैसीई सुरँन असि कारौ पीरौ गात;
अथवा—(क) द्वै-सिंग आनन पर जमे पीरौ कारौ गात;
४ „ अमृत-सम गरल मानहीं देखि हु अमृत डरात ।
अथवा—(च) गरल अमृत सम मानहीं अमृत देखि डरात ।
५ —याद यह रस-कथा ।
५३—१ (ग)(घ) कोउ कहै अहो मधुप बहुत निरगुन हम मान्यौ
अथवा—(च) कोउ कहत अहो मधुप निगुन हम बहु करि जान्यौ
२ तरक-वितरकनि जुक्ति बहुत उनही पद का

पै इतन्हीं नहिं जानि-हीं, बस्तु-बिनौं गुन नाहिं;[1]
निरगुन भए अतीत के, सगुन सबै जग माहिं ॥
—बुधि जो ग्यौंन होइ[2]।

५४

कोइ कहै रे मधुप, होंहिं तुम्हसे जो संगी,[3]
क्यौं न होहिं सँग स्याम सकल बातँन चतुरंगी[4]।
गोकुल मे चोरी कोइ, पाई नाँहिं मुरारि;[5]
ज्यौं जु त्रिभंगी आपु है, त्यौं करी त्रिभंगी-नारि[6] ॥
—रूप, गुन, सील की ॥

अथवा—(ङ) ताकौ तिरगुन जानि जु करी अनहीं तें मान्यौ।
१ (क) पै इतनौ नहिं जानहीं बिनौं वस्तु गुन नाँहि।
२ ,, निरगुन सबै अतीत कै सकल सगुन जग माँहिं ॥
अथवा—(ग) निरगुन-सक्ति जु स्याम की सबै सगुनता माँहिं।
३ —सखा सुन स्याम के।

विशेष—
तिरपन नंबर का चौथा चरण और छप्पन नंबर का चौथा चरण दोनों एक-से हैं।

पावन नवरत्नाला छन्द—"कोऊ कहै रे मधुप नहिं परस्पर सु देख्यौ" (घ) प्रतिमें तिरपन नंबर पर और तिरपन नंबर वाला छन्द उसी प्रतिमें चव्वन नंबर पर दिया है।

५४—४ (म) (म) कोऊ कहै अहो मधुप होहिं जो तुम सो संगी
५ ,, होहिं न क्यौं सम-स्याम सबै बातन चतुरंगी।
६ ,, चोरी गोकुल मैं कोऊ पाई नहीं मुरारि।
७ ,, सबी त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि ॥
अथवा—(च) मदन-त्रिभंगी आप हैं करी त्रिभंगी-नारि।
अथवा—(छ) ललित-त्रिभंगी आपु ज्यौं करी त्रिभंगी-नारि ॥

५५

कोउ कहै रे मधुप, स्याम—जोगी तू चेला,¹
कुबजा—तीरथ जाइ कियौ इन्द्रिन कौ मेला²।
मधुबन-सुधि बिसराइ कैं, आए गोकुल माँहिं;³
यहाँ सबै प्रेमी बसैं, तुम्हरे गाहक नाँहिं ॥
—पधारौ रावरे !

५६

कोउ कहै री सखी, मानु मधुबन के ऐसे,¹
औरु यहाँ के सिद्ध-लोग, हैं ई यों कैसे²।

पाठान्तर—

५५—१ (इ) (प) कोऊ कहै अहो मधुप स्याम-जोगी तुम चेला
२ " कुबजा-तीरथ जाय कियौ इन्द्रिन का मेला।
अथवा— (च) तीरथ-कुबजा जाइ करी इन्द्रिन कौ मेला।
३ मधुबन सुधहिं बिसारकै आए गोकुल माँहि।
अथवा— (क) मधुबन सिद्ध बहाइ कैं, आए गोकुल [illegible]
अथवा— (ग) सुधि-मधुबन बिसराइ [illegible] पहुँचे गोकुल [illegible]
४ (अ) (प) इत सब प्रेमी बसत हैं तुम्हरे [illegible]
अथवा— (च) प्रेमी इत सब बसत हैं गाहक [illegible]

विशेष—

चौवनवाँ छन्द (क) प्रति में [illegible] नंबर पर [illegible] और इसी तरह (च) प्रति में [illegible] है तथा पचपन नंबरवाला छन्द (ग) प्रति में [illegible] (अ) प्रति में छप्पन नंबर पर है।

५६—१ (च) (छ) [illegible]
२ " " [illegible]

औगुन-हीं गहि लेसि हैं, जो गुन डारें मेंटि;
मोंहन निरगुन होंहिं क्यौं न, उँन्ह सागुँन कों मेंटि ॥
—गाँठि कछे छोइ कें ॥

५७

छोइ कहै रे मधुप, ग्यौंन उलटौ लै आयौ,
मुक्ति पर जे लोग, तिन्हें फिरि करँम बतायौं ।
बेद-उपनिषद-सार जो, मोंहन-गुन गहि लेंहि;
तिन्ह कों आतम-सुद्धि करि, फिर-फिरि सथा देंहि ॥
—जोग-घटसार में ।

५८

छोइ कहै सखि, बिस्व-माँहिं जेतक हैं कारे,
कोटि-कपट की खाँन, कुटिल-मोंनस बिपहारे ।

पाठान्तर—

१ (ख) (ग) औगुन-गुन गहि लेसि हैं गुन की डारत मेंटि।
२ „ (घ) मोंहन-निरगुन की गहे तुम सगुन की मेंटि ।
५७—१ (ग) (घ) छोइ कहै अहो मधुप ग्यान की उलटी ल्यायौ
२ भए मुक्ति जे लोग, करम फिरि तिन्हैं बतायौ ।
अथवा— (च) मुक्ति भए जो रसिक ! तिन्हैं क्यौं करम सिखायौ।
विशेष—उप्पन नंबरवाला उक्त छन्द (च) प्रति में अट्ठावन नंबर पर और सत्तावन नंबर का छन्द उक्त प्रतिमें चौवन नंबर पर उद्धृत है।
५८—१ (क) छोइ कहै री बिस्व माँहि हैं जेतिक कारे
२ कपट कोटि के परम-कुटिल मानुष बिपहारे।
(ख) कपट कुटिल की कोटि परम-मानुष बैंसिहारे।
(म) कुटिल कपट की कोटि परम-मानुष मसिहारे।

एक साँप-तँन परसि कैं जरत आअलों अंग;
ता पाछें ये मधुप फिरि, लायौ जोग-भुअंगे ॥
—कहा इन्ह कौं दया ?

५९

कोहू कहै र मधुप, कहत अनुरागी तुम्ह कौं;[2]
कौंनें गुनधौं जानि ? परँम अचरज है हम कौं[3] ।
कारौ-तँन अति पातकी, मुख-पियरौ जग-निंद;[4]
गुन-औगुन सब आपुने आपु-हिं कौंन अलिंदे ॥[5]
—दखि, लै आरसी[6] ॥

६०

या विधि सुमरि गुविंद, कहति सखी-प्रति गोपीं,[7]
भृंग-संग्या करि यदत सकल कुल-लज्जा-लोपीं[8] ।

पाठान्तर—

१ (स) ता पाछैं यह मधुपहू लायौ जोग-भुयंग ।
५९—२ (क) (ख) कोऊ कहा कहो मधुप कहैं अनुरागी तुम्हकौं
३ कौनैं गुन की जान परैं अचरज है हमकौं ।
४ „ कारौ-अंग बहु पातकी पियरा-मुख जग-निंद;
५ (ख) अवगुन-गुन सब आपुने आपी जान मलिंद ॥
६ „ —हरि गहि आरसी !

विक्षेप—

अनुक्रम संख्यावाला यह छन्द (ख) प्रति में सैंतालीस नंबर पर और उनसठ संख्यावाला छन्द उनचास नंबर पर (क) प्रति में दर्ज मिलता है।

६—७ (ग) या बिधि सुमिरि गुविंद कहैं ऊधव प्रति गोपी
८ „ संग्या भृंग करि कहत सबै लज्जा कुल लोपी ।

ता-पाछें इक बार-हीं रोइ उठीं ब्रज-नारि,
हा करुनां-मै नाथ हा, केसौ, कृष्ण, मुरारि ॥
—फाटि हियरौ चल्यौ ॥

६१

उँमग्यौ जो तहँ सलिल, सिंधु-सौ तन की धारैंन,
भींजि अंबुज-नीर, कंचुकी, भूषँन, हारैंन ।
ताही प्रेम-प्रवाह में, उर्यौ चल्यौ बहाइ;
भली ग्याँन की मैंड़-सी, ब्रज में प्रगट्यौ आइ ॥
—कूल कौ तृँन भयौ !

पाठान्तर—

१ (च) ता पीछें एक बारही उठीं रोइ ब्रज-नारि;
अथवा— (अ) तन-मन तें छबि स्यामकी ऐसी दई दिखाइ;
२ " जिमि योगस्मगोरस मिलै पैडु न दिखा सकाइ ।
३ " —अचिरजा प्रेम कौ !
६१—१ (ख) (ग) उँमग्यौ जो तहँ सलिल-सिन्धु तनकी करि धारन
अथवा—(ठ) उँमगी कोउ जो सलिल मनु मैंनदि की धारा
५. " भिजवति जो बहि जाति कौतुकी सिन्धु-अपारा ।
६ ताहि प्रेम-मय सिन्धु में ऊधव चले बहाइ;
७ (छ) —कूल-तरन भए ।
(घ) —सापक जूक तरि गयौ !
(प) कूल के तृन भए ।

६२

प्रेम पियूषा दरसि, सुद्धि अति भक्ति-प्रकासी,'
दुविधा-ग्यान-गिलानि मंदता सिगरी नासी।
कहति अहो निगुनै यहै, हरि-रस कौ निज-पात्र;'
हौं तौ कृत-कृत ह्वै गयौ, इनके दरसन मात्र ॥
मेटि मद-ग्यान कौ !

६३

पुनि-पुनि कहि 'हरि' कहन बात एकांत पठायौ,'
मैं इन कौ कछु मरम जानि एकौ नहिं पायौ।
हौं कहौं निज-मरजाद की, ग्यान-करमनि रोपै;
ए सब प्रेम-असक्त ह्वै, रही लाज-कुल-लोपै ॥
—धन्य ए गोपिका !

पाठान्तर—

६१—१ (क) (ख) प्रेम-पर्यंसा दरसि सुद्ध भो भक्ति-प्रकासी।
३ कहति अहो निगुर्नै यही हरि-रस की निज पात्र।
अथवा— (ग) निगुर्नी ए हैं अहो हरि-रस की सब पात्र।
६२—२ (क) पुनि सब सौं कहि कहन बात एकान्त पठायो।
४ „ पै इन का मैं मरम जानि कछु नहिं पायो।
अथवा— (ख) इन का ही कछु मरम जानि नहिं कछु पायो।
५ (क) हौं तो निज मरजाद की ग्यान कर्म करता रोपि
६ पै सब प्रेमासक्ति है कुल-लज्जा दई लोपि।

६४

जो ऐसें मरजाद-मेंटि मोंहन कों ध्यावें,[1]
क्यों न परँम-आँनंद-प्रेंम-पदवी कों पावें[2]।
ग्यौंन, जोग सब करँम तें, प्रेंम-परे आइ साँच;[3]
हों इन्ह पटतर देति हों, हीरा-आगें काँच ॥
—बिषमता बुद्धि की !

६५

धन्य-धन्य ए लोग, भजत जो हरि कों ऐसें,[4]
और कोइ बिन रस-हिं प्रेंम-पावत कहौ कैसें[5]।
मेरें या लघु-ग्यौंन कौ, रह्यौ जु मद है ब्याधि;[6]
अब जान्यों ब्रज-प्रेंम कौ, लहति न आधौ-आधि ॥
—ऊधौं सँम करि मरयौ !

पाठान्तर—

६४—१ (क) ऐसी जे मरजाद-मेटि मोहन कौ ध्यावैं
२ काहे न परमानंद प्रेम-पदवी कौ पावैं।
अथवा—(ख) काहे न प्रेमानंद-प्रेम पद पी कौ पावैं।
अथवा—(ग) काहे न परमानंद प्रेम-पदवी सुखु पावैं।
३ ग्यान, जोग सब करम सौं प्रेम-परे है साँचु।
६५—४ (क)(ख)(ग) धनि धनि ऐ ब्रज लोग भजे हरि कौं जो ऐसें
५ और जु पावत प्रेम-बिना पावत कहु कैसें।
६ मेरे या लघु ग्यान कौ उर-मद रह्यौ उपाधि
अथवा— (ख) या लघु मेरे ग्यान कौ मन मैं मद रह्यौ ब्याधि।

६६

पुनि कहँ परसि सु पाँइ, प्रथम हौं इन्हें निवारयौ,
भृंग-संग्या करि कहत, निंद सबहिन तें डारयौ।
अब ह्वै रहौं ब्रज भूमि के, मारग में की धूरि;
विचरत पग मो पै परें, सब-सुख-जीवन-मूरि ॥
—मुनिन्ह दुरलभ अहैं ॥

६७

कै ह्वै रहौं द्रुम-गुल्म, लता, बेली बन-माँहीं,
आवत-जात सुभाइ परै मो पै परछाँहीं।

पाठान्तर—

६६—१ (क) (ख) पुनि कहि परसत पाँइ प्रथम मैं इनैं निवारयौ
अथवा— (ग) कहि पुनि परसत पाँइ सबनि हौं प्रेम दि वारौ
२ ,, भृंगी-संग्या करत निसर-गुन-गुन बिसारौ।
३ अब रहि हौं ब्रज-भूमिकी ह्वै पग-मारगधूरा
अथवा— (ग) तब मति मैं हुत-हुत है मुँख बसे सद पाँइ।
४ ,, अवगुन तें मधुकर भयो सुधा-जोग मिलाइ।
५ (क) —मुनिनहूँ दुरलभै।
अथवा— —मुनिन दुरलभै जो।
६७—१ (क) कबै होंहू द्रुम लता बेलि, बली बन माँहीं
२ (ख) परै सुभावत-जात मानों मो पै परछाँहीं।
भ नी है—

सोऊ मेरे बस नहीं, जो कछु करौं उपाई;
मोहन होंहिं प्रसन्न जो, मैं बर माँगौं चाई॥
—कृपा-करि देहि ना!

६८

पुनि कहि सब तें साधु-संग, उत्तम है भाई!
पारस-परसें लोह, तुरत कंचन ह्वै जाई।
गोपी-प्रेम-प्रसाद सों, हौं हीं सीख्यौ आई;
ऊधौ ते मधुकर भयौ, दुविधा ग्यान मिटाई॥
—पाइ रस प्रेम कौं!

६९

ऐसें मन-अभिलाखि करत मथुरा फिरि आयौ,
गदगद, पुलकित अंग अंग आवेस जनायौ।

पाठान्तर—

१ (ख) मेरे बस हू बस नहीं करौं हू कछुक उपाइ;
२ मोहन होंहिं प्रसन्न जो बर-बर माँगौं जाइ॥

विशेष—

अड़सठवाँ छन्द (च) प्रतिमें सड़सठ नम्बरपर और सड़सठवाँ छन्द अड़सठ नंबरपर लिखा है।

६८—१. (ख) " कहि पुनि सब तें संग-साधु उत्तम है भाई
२ परसैं-पारस लोह तुरत कंचन ह्वै जाई।
५. (ग) (ङ) सौंति-नीर सीपहिं मिलैं मुक्ता होत सुभाइ;
६ नीर-छीर सँग कै मिलै बिसद-रूप दरसाइ॥
७ " " —संग को गुन कहौ॥

६९—८ (घ) (च) इहि बिधि मन अभिलाख करत मथुरा पुनि

गोपी-गुन-गावँन लग्यौ, मोंहन-गुन-गयौ भूलि;
जीवँन कौ लै का करौं, पायौ जीवँन-मूलि ॥
—भक्ति कौ सार यौं[1] ॥

७०

ऐसें सोचत, स्याँम जहाँ राजत तहँ आयौ,[1]
परकमा, दंडौत, प्रेम सौं हत जनायौ[2] ।
लखि निरदइता स्याँम की, करि क्रोधित दोउ नैंन;
पुनि ब्रज-बनिता-प्रेम सों बोलत रस-भरे बैंन ॥
—सुनों, नँद-लड़िले !

पाठान्तर—

१ (ग) (म) गद्‌-गद्‌ पुलकित रोम अंग आवेस जनायौ

२ „ „ —भक्ति कौ सार यह !

अथवा— (ग) —भक्ति कौ मूल ये

विशेष—

अष्टमकौ छन्द (क) प्रतिमें अपूर्ण अंकपर अङ्कित मिलता है। इस छन्दका चौथा चरण जैसे—"ऊधौ तें मधुकर भयौ दुविधा-जोग-मिटाइ' सड़सठवें-छन्दके पाठान्तरमें उद्धृत किया जा चुका है। यथा—

तब अलिसे हल-हन्त है धूँध बसे सरि चाइ।
'ऊधव तैं मधुकर भयौ मुद्रा-जोग मिटाइ।''
—सबी यह संपदा !

अथवा—

"ऊधौ तैं मधुकर भयौ दुविधा-जोग मिटाइ' ॥

७०—१ (क) (ट) ऐसैं सोचत जहाँ स्याम तहँ आयौ-आयौ

२ „ „ परिकरमा दंडौत कुमरि आवेस जनायौ।

५. (च) (छ) कछु निरदयता की लखि करि क्रोधित दोउ नैंन।

अथवा— (ख) निरदयता लखि स्यामकी क्रोधित करे दोउ।

६ (च) (छ) कछु ब्रज-बनिता प्रेमकी बोलत रसभरे बैंन॥

७१

करुनामई-रसिकता है तुम्हरी सब झूठी,[1]
जब ही लौं कहौ लाख, तभी लौं बँध रही मूँठी[2] ।
मैं जान्यों ब्रज जायकैं, निरदै तुम्हरौ-रूप[3];
जो तुम्ह कों अवलंब-ही, तिन्ह कों मेलौ कूप[4] ॥
—कौन यै धरँम है[5] ?

७२

पुनि-पुनि कहै अहो स्याँम, चलौ बृंदाबँन रहिये,[1]
परँम-प्रेम कौ पुंज जहाँ गोपिँन-सँग लहियेँ ।

पाठान्तर—

६—अथवा—(ग) ब्रज-बनितन कछु प्रेम नहिं, रस-भरे बोलत बैन ।
अथवा— कछु विरहपता स्याम की सोच समझ देत नैन।

७१—१ (क) (ख) करुनामई जो रसिक-प्रकृति तुम्हरी सब झूँठी
अथवा—(ग) करुनामयी रसिकता सब तुम्हरी अति झूँठी
२ „ जब ही लौं नहिं कही तबहिं लौं बाँधी मूँठी ।
अथवा—(क) ब्रज-बनितन दुख-दयौ सबन-मन करी निज मूठी ।
३ (क) (ख) जान्यौ ब्रज मैं जाइ कै तुम्हरौ निरदै-रूपा
४ „ „ तुमहीं जो अवलंब ही मेलो तिन कौ कूप ।
५. —कौन सो धरम यह !

७२—१ (क) (ख) पुनि-पुनि कहैं हैं स्याम जाइ बृंदावन रहिये
२ „ प्रेम-पुंज तैं लखत-प्रेम गोपिन-सँग लहिये ।

और संग सब छाँड़ि कै, उन-लोगँन सुख-देहु,[1]
नातरु टूट्यो जात है, अब-हीं नेह-सनेहु[2] ॥
—करौगे फिरि कहा !

७३

सुनति सखा के बैन, नैन भरि आए दोऊ,
बिबस प्रेम-आवेस रही नाँहिन सुधि कोऊ।
रोंम-रोंम-प्रति-गोपिका, भई साँवरे-गात,
कलप-तरोरुह-साँवरौ, ब्रज-बनिता हीं पात ॥
—उलहि अँग-अँग ते ॥

७४

है सचेत, कहि भले सखा, पठऐ सुधि ल्यावनें,
औगुन हमरे आँनि, तहाँ ते लगे दिखावन।

पाठान्तर—

१ (ड) (च) और सकल सँग छाँड़ि कै ब्रज-बनितन सुख देहु
२ (च) नातरु टूटहि जात है सबै जु नेह-सनेहु ॥
३ —करौगे तो कहा !
७३—३ (क) बिबस प्रेम के भर्यें रही सुधि नाहीं कोऊ,
५ रोंम-रोंम में गोपिका भइ साँवरे-गात।
अथवा— (ख) रोंम-रोंम प्रति गोपिका है गईं साँवरे गात।
अथवा— (ग) रोंम-रोंम सब गोपिका है रहीं साँवल-गात।
६ (घ) काम-तरोवर साँवरो ब्रज-बनिता भईं पात ॥
अथवा— (ङ) काम-तरोवर स्याम भयौ ब्रज-बनितनके पात ॥
७४—७ (च) (छ) (ज) है सुचेत कहि भलौ सखा पठयौ सुधि ल्यावन
८ औगुन हमरे आँनि तहाँ तें लगे बतावन।

उन में, मो में है सखा, रंचक-अंतर नाँहिं;
ज्यों दीसत मो-माँहिं वे, त्यों होंहुँ उँन्ह माँहिं ॥
—सरँगनि-बारि ज्यों !

७५

गोपी-रूप दिखाइ सबै मोहन, बनवारी,
ऊधौ भ्रमहिं निवारि, बारि पुनि मोह की झारी ।
अदभुत-रूप बिहार कौ, लीन्हौं बहुरि दुराइ;
"नंददास" पावन भयौ, सो वै लीला गाइ ॥
—प्रेम-रस-पुंजनीं !

पाठान्तर—
१ (अ) (क) (ख) मो में उन में अंतरो एकौ छिन भरि नाँहि।
अथवा— (ग) उन में मो में अहो सखा ! छिन भरि अंतर नाँहीं।
२ ज्यौं देख्यौ मो माँहि वे ही हूँ उनहीं माँहि ॥
अथवा— (ग) ज्यौं देखौ मो-माँहि वे त्यौं मैं उनहीं माँहिं ॥
७५—१ (क) गोपी आप दिखाइ एक-करि हैं बनवारी
२ ,, ऊधौ के भरे नैन डारि व्यामोह-झारी।
अथवा— (ख) अद्भुत-भ्रम हू निवार डार गुन मोह की झारी।
४ ,, अपुनौ रूप बिहार कौ कीन्हौ बहुरि दुराइ।
अथवा— (ङ) अपनौ रूप दिखाइ कैं, कीन्हौ पुनहिं दुराइ।
अथवा— (च) हम अबस जानी नहीं छोड़ी करी हैं प्रीति
५ नहीं भई प्रभु सौं बाकी जग में बाढ़ी रीति ॥
अथवा— (छ) "जन-मधुकर" पावन भए रस-लीला हरि गाइ ॥
—बाढ़ी रीति है !
• (ग)

टिप्पणी
और
सम-भावद्योतक सूक्तियाँ



टिप्पणी

और

मम भावद्योतक सूक्तियाँ

कथानककी पूर्वपीठिका—'उद्धवका गोपियों से कृष्ण-संदेश कहने जाना।'

उद्धव—(ऊधो) (उधव) यादववंशी श्रीकृष्णके सखा, मित्र, यार, दोस्त या भक्त। जैसे—

> वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा।
> शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः॥
> (श्रीमद्भा० १०।४६।१)

उद्धव, देवमीढ़ अर्थात् शूरसेनकी स्त्री 'मारिषा' से उत्पन्न 'देवभाग' के पुत्र थे।

> देवमीढस्य शूरस्य मारिषा नाम पत्न्यभूत्।
> तस्यां स जनयामास दश पुत्रानकल्मषान्॥
> वसुदेवं देवभागं देवश्रवसमानकम्।
> सृञ्जयं श्यामकं कङ्कं शमीकं वत्सकं वृकम्॥
> (श्रीमद्भा० ९।२४।२७—२९)

ऊधौ—

'ऊधौ' सर्वेन समीपेषि बौधि वर्णय की परिषद ।

(नवनीत कवि)

(उपदेश)—शिक्षा, दीक्षा, हित-कथन, सिखावन, सीख, नसीहत । ब्रज, सं०—ब्रज—गो-स्थान, मथुरा-मण्डल, समूह—

'समूह-निवह-व्यूह-संदोह-विसर व्रजाः'

(अमरकोष २ । ५ । ३९)

नागरी—नगरमें रहनेवाली, प्रवीण, चतुर स्त्री । यहाँ 'नागरी' शब्दका अर्थ इससे समन्वित 'ब्रज' का चमत्कारक श्रीवियोगी हरिजीने अपने पहले संस्करण 'ब्रज-माधुरी-सार' में और श्रीमान् ब्रजरत्नदासजीने स्वसम्पादित 'भ्रमर-गीत' में (नागरीका अर्थ) 'नगरवासिनी' अथवा 'नगर-निवासिनी' किया है, जो उचित प्रतीत नहीं होता; क्योंकि ब्रज में नगर-निवासिनी स्त्रियाँ नहीं रहती थीं—निवास नहीं करती थीं । अपितु यहाँ दोनों अर्थात् 'ब्रज और नागरी' का अर्थ एक साथ ही होगा । ब्रज-नागरी—ब्रज की चतुर या प्रवीण स्त्री, या स्त्रियाँ ।

रूप—किसी का वह गुण जो चक्षुरिन्द्रिय-द्वारा जाना जाता हो, अथवा पदार्थों के वर्णों व आकृति का योग जिसका ज्ञान नेत्रोंको होता हो । रूप, आकार, आकृति और सुन्दरताका भी नाम है ।

पदार्थोंमें एक शक्ति संनिहित रहती है जिससे द्रष्टाको उन पदार्थोंकी आकृति और वर्णोंका ज्ञान या बोध होता रहता है, इसलिये इस शक्तिको 'रूप' कहते हैं, क्योंकि दर्शन-शास्त्रकारोंने

रूपको चक्षुरिन्द्रियका ही विषय माना है। वैशेषिक-दर्शनकार इसे (रूप) गुण मानते हैं।

"रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च विषया अमी।
(अमरकोश १।५।१६)

सांख्यकार इसे पञ्चतन्मात्राओंमें एक तन्मात्रा और बौद्ध दर्शनकार रूपको पाँच स्कन्धोंमें पहला स्कन्ध कहते हैं। जैनतत्त्वदर्शनमें इसको एक उपाधि नामसे उद्बोधित किया है, अतएव 'रूप' सोलह प्रकारका होता है—"ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुरस्र, वृत्त, शुक्ल, कृष्ण, नील-अरुण, रक्त, पीत, कठिन, चिक्कण, श्लक्ष्ण, पिच्छल, मृदु और दारुण।

सील या शील—उत्तम-स्वभाव, चाल-व्यवहार, वृत्ति, चरित्र, उत्तम-आचरण, अच्छा चाल-चलन आदि-आदि।

बौद्ध-शास्त्रकारोंने 'शील' के हिंसा, स्तेन व्यभिचार, मिथ्या भाषण, प्रमाद, अपराह्न-भोजन, नृत्य-गीतादि, माल्य-गन्धादि, उच्चासन शय्या, द्रव्य-संग्रह और इन सबका त्याग इत्यादि दस प्रकार माने हैं। कहीं-कहीं 'सप्तशील' भी कहे जाते हैं, पर यह 'शील' छः या दस पारमितायोंमेंसे एक है, जो कि तीन प्रकारका कहा जाता है—सम्भार, कुशल-संग्रह और सत्त्वार्थ-क्रिया।

(हिंदी शब्द-सागर ३३३१)

पर—

"शील स्वभावे सद्वृत्ते सस्ये हनुरूपे चन्द्रम्।

अर्थात्—सुस्वभाव, प्रकृति, अच्छा मन आदिको ही "शील" कहते हैं।

गुण्यो गु चरिते "दीसिम्" ।
(अमरकोष १।७।२१)

लावन्य (लावण्य)—नमकीन, अत्यन्त सुन्दर, सुनाई स्तै—सबका, सम्पूर्णका अनुभवन । गुन-आगरी—गुणोंकी खान समूह । गुण—वह धर्म या भाव अथवा सिफत जो किसी वस साथ सम्बन्धित हो—रूपी हो ।

सांख्यकार तीन गुण मानते हैं, सत्त्व, रज और तम । तीनोंकी साम्यावस्थाको प्रकृति कहते हैं । जिससे कि सृष्टि उ होती है—विकसित होती है । सतोगुण हल्का और प्रकाश क माना, रजोगुण चञ्चल व प्रवृत्तिकर तथा तमोगुण भारी रोकनेवाला कहा जाता है । इन तीनों गुणोंका यह साम्यि धर्म है कि वे परस्पर एक दूसरेको दबाते हुए अपना-अपना प्र दिखाते और एक दूसरेके आश्रयमें रहते, एक-दूसरेको उत्पन्न क रहते हैं । जिससे जाना जाता है कि सांख्यमें गुण एक प्रकार द्रव्य है—तरल पदार्थ है, जो विविध धर्मोंसे घूसरित है जिससे विविध पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं । विज्ञान भिक्षुका अभि है कि जिससे आत्माके बन्धनार्थ महत्तत्त्व आदि रमणीय रज्जु तै होता है उसीको सांख्यकार "गुण" कहते हैं । वैशेषिक गुण द्रव्यके आश्रित मानते हैं और उसकी परिभाषा इस प्रकार लिख हुए कहते हैं कि—"जो द्रव्यमें रहनेवाला हो, जिसमें कोई गुण हो और जो संयोग-विभागका कारण न हो उसे "गुण" कहा जा है । रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह और वेग—ये मूर्त-द्रव्योंके गुण हैं । बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न,

धर्म, अधर्म, भावना और शब्द—ये अमूर्त-द्रव्यके गुण हैं। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग, मूर्त और अमूर्त दोनों द्रव्योंके गुण हैं। यह गुण दो प्रकारका होता है—विशेष और सामान्य। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, सांसिद्धिक द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, भावना और शब्द ये 'विशेष' गुण हैं अर्थात् इनसे द्रव्योंमें भेद माना जाता है। संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, नैमित्तिक-द्रवत्व और वेगादि 'सामान्य' गुण हैं। द्रव्य स्वयं आश्रय हो सकता है, पर गुण स्वयं आश्रय नहीं हो सकता। कर्म संयोग-विभागका कारण होता है किंतु "गुण" नहीं। गुण—सन्धि, विग्रह, यान, आसन, द्वैध और आश्रय इन छहोंको राजनीति शास्त्रकी परिभाषामें "गुण" ही कहा जाता है। यथा—

सन्धिर्नाविग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः।
षट् "गुणाः" ~ ~ ~ ~ ~ ~ ॥

कोषोंके अनुसार धनुषकी डोरीको भी गुण कहते हैं, यथा—

मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः" (अमरकोष)

ब्रज-नागरी, गर्व, मीरु, लावण्य और गुन-आगरीके सरस-प्रयोग।

"नागरी ब्रज-नागरी" प्यारी रैन मेरा दौन।

—परमानन्ददास

"... अमीनी ... को ... है मौन-गुमौन।"

—कृष्णदास

---

१ ... "भ्रमरगीत" में दो
१, ७, ... १८, २१, २४, २८, ३०, ३१, ४२ और ७० नम्बरके ...
... "... ..." ... नहीं, जैसे—

... ... ।
"..."—... ... ... ॥

"सील" सँकोच न स्यामहिं प्यारे ।"

—परमानन्ददास

"कहि न सकति 'कामध्वजा' श्रीरति-राज-कुमारि ।"

—बाबा कृष्णदास

"छबीली-नागरी 'गुन-आगरी'" मेरौ मन मोहि लियौ ।"

—सूरदास मदनमोहन

प्रेम-धुजा, शुद्धस्वरूप—प्रेमध्वजा—प्रेमकी ध्वजा, अर्थात् प्रेम करनेवालोंमें अग्रगण्य, अगाड़ी गिनी जानेवाली ।

प्रेम-धुजा (प्रेमध्वजा) पर कुछ इसी भावको—नन्ददासजीकी इसी सौन्दर्यमय सूक्तिको, परमानन्ददासजीने बड़ी सुन्दर रीतिसे वर्णन किया है—

गोपी प्रेम की धुजा ।
जिन गुपाल किए अपने बस उर धरि स्याम-भुजा ॥
सुक-मुनि व्यास प्रसंसा कीन्हीं ऊधौ-संत-सराँहीं ।
भूरि-भाग गोकुल की बनिता अति-पुनीत भुव-माँहीं ॥
कहा भयौ जिन-कुल जनमें जो हरि-सेवा नाँहीं ।
सोइ कुलीन 'दास परमानँद' जे हरि सन्मुख जाँहीं ॥

हमारे माननीय स्वर्गीय कवि श्रीनवनीतजी भी यही कहते हैं—

नारद परासर तें आदि व्यास सुकदेव
मुनिन समाज गोरि कीन्हीं चौर जस की ।
नवनीत' प्यारे के प्रतापी भुव कारीगर
प्रीति-पिरथी मैं नीम डोरी प्रेम जस की ॥
परम-पुनीत पैहलाद परखैया किये
उदय अनन्य धाम धाई नेह जस की ।

ब्रज मों मिलत ताके कारन रसरूपनी

प्यारी-प्रमा गोपिका 'भूषा' हैं प्रेम-रस की ॥

रस-रूपनी—रस-स्वरूपिणी, अर्थात् रसों की साक्षात् मूर्त्तियाँ।
रस—रस नौ प्रकारके माने जाते हैं। यथा —

> शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
> बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः शान्तस्तथा मतः ॥
>
> (साहित्यदर्पण ३ । १८२)

अर्थात्—शृंगार, हास्य, करुण, रौद्र वीर भयानक, बीभत्स अद्भुत और शान्त आदि। कोई-कोई शान्तको छोड़कर केवल आठ रस ही मानते हैं।

> शान्तस्य शमसाध्यत्वान्नटे च तदसम्भवात् ।
> अष्टावेव रसा नाट्ये न शान्तस्तत्र युज्यते ॥

अपरा—

> अष्टावेव रसा नाट्येष्विति केचिदचूचुदन् ।
> तदचारु यतः कञ्चिन्न रसं स्वदते नटः ॥
>
> (सङ्गीतरत्नाकर ७ । ११७)

कुछ लोग वात्सल्य-रस, दास्य-रस और सख्य-रसके साथ भक्ति-रस को भी इन नौ रसोंमें ला जोड़ते हैं।

वैद्यक रस छः मानते हैं—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त और कषाय। खुराक-अनुसार जो पदार्थ मनुष्य खाता है उससे रक्तादि जो सूक्ष्म-सार बनता है वह भी 'रस' कहलाता है। रस जल को, मकरन्द भी कहते हैं। विष, कवि, काम

क्रीडा आदिको भी 'रस' कहते हैं। उमंग, जोश, वेग, गुण, सिफत, जल, पानी आदिको भी 'रस' कहते हैं, परंतु नन्ददासजीने इन रसोंके लिये इस शब्दका प्रयोग नहीं किया है, अपितु यहाँ 'रस' शब्दसे वह अभिप्रेत अर्थ है, जिसके लिये श्रुतियाँ कहती हैं—

रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २।७।१)

वेदोंमें भगवान्‌को 'रस' रूप कहा है—

अकामो धीरो अमृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः।
तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम्॥
(अथर्व १० । ८ । ४४)

इन वेदों, उपनिषदों और ब्राह्मणोंमें जिस मधु-रसका नाना प्रकारसे वर्णन किया है, वही 'रस' यहाँ अभिप्रेत है—यही अर्थ यहाँ इच्छित है।

उपजावनि—उपजानेवाली, पैदा करनेवाली। सुख-पुंज—सुखका समूह, ढेर। सुख—मनकी वह उत्तम तथा प्रिय अनुभूति जिसके द्वारा अनुभव करनेवालेको विशेष समाधान और संतोष होता हो, अथवा जिसके बराबर अर्थात् हमेशा बने रहनेकी कामना करता हो, वह अनुकूल और प्रिय-वेदना जिसकी सबको अभिलाषा रहती है।

सुखको कुछ लोगोंने हर्षका पर्यायवाची शब्द माना है, पर है दोनोंमें अन्तर। कोई उत्तम समाचार सुनने अथवा कोई उत्तम पदार्थ प्राप्त होनेपर मनमें जो सहसा 'वृत्ति' स्फुरित होती है उसे हर्ष कहते हैं।

यथा—

प्रिय-दरसन लखवारि में हाइ जो हिये प्रमाद।

—देव

परन्तु 'मुग्ध' इस तरह आकस्मिक रीतिसे नहीं होता, क्योंकि यह इसकी अपेक्षा अधिक स्थायी—स्थायी ठहरनेवाला होता है। अनेक प्रकारकी चिन्ता करने आदिसे अलग रहनेपर तथा अनेकानेक वासनाओंकी परितृप्ति होनेपर मनमें जो प्यारी-प्यारी अनुभूतियाँ अनुकूल होती हैं वास्तवमें उन्हींका नाम तो सच्चा सुख है। अत इस सुखको कुछ महानुभावोंने मनका और कुछ लोगोंने आत्माका अनुपम धर्म माना है। न्याय और वैशेषिक मतानुसार सुख आत्माका 'गुण' है जो दो प्रकारका है—नित्य-सुख और अन्य-सुख। सांख्य और पातञ्जलिके अभिमतसे 'सुख' प्रकृतिका धर्म है, जिसकी उत्पत्ति सत्त्वोंसे होती है। ऐसा भी तीन प्रकारका 'सुख'—सात्त्विक, राजस और तामस नामसे मानते हैं। सात्त्विक सुख ज्ञान, वैराग्य और ध्यानादिसे, राजसिक सुख विषय तथा इन्द्रियोंके संयोगसे और तामसिक सुख आलस्य और उन्मादसे उत्पन्न होता है; किंतु कोशकार 'हर्ष' को ही 'सुख' मानते हैं—

मुद् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः।
स्यादानन्दथुरानन्दः शर्मसातसुखानि च ॥

(अमरकोश १।४।२)

सुंदर-स्याम विलासनी—स्याम-सुन्दरके साथ विलास करनेवाली, आनंद देनेवाली, पालनेवाली, सेवनेवाली। 'सुन्दर-स्याम' श्रीकृष्णका नाम

विहार है। विलास या विभ्रम—काम, क्रीड़ा, कामुक, भोग, सुख, आनन्द।

स्यातां विलासविब्बोकौ विभ्रमो ललितं तथा।
(अमरकोश १। ७। ३१)

नव-वृंदावन-कुंज—नयी, नूतन, नवीन-श्रीवृन्दावनकी कुञ्ज। वृंदावन—तुलसीसे भरा वन, कुंज—लताओंसे ढका हुआ स्थान।

रस-रूपनी, उपमावनि, सुख-पुंज, सुन्दर-स्याँम-विलासनी, वृन्दावन और कुंजके सरस प्रयोग—

रस-रूपनी प्यारी ! बँकु हुत देनी सुख-सारि।
—गदाधर भट्ट

सुख उपमावनी राधे प्रिया नवनीत मान।
—ललितकिशोरी

'वृंदावन' निरखी करें जहँ 'कुंज-कुंज' सुख-पुंज।
—नागरीदास

'सुंदर-स्याँम' सुजान सिरोमनि कहूँ कहा कहि जाती हो।
—गदाधर भट्ट

(२)

स्याँम-सँदेस—श्यामका संदेशा, समाचार, हाल-चाल, खबर, पत्र। संकेत—इशारा, निर्दिष्ट-स्थल। औसर—अवसर, समय। ठौर—एक-ठौर, एक जगह, एकत्रित। मधुपुरी—'मथुरा' का दूसरा नाम।

मधुवन 'मथुरा' का वर्णन श्रीमद्भागवतमें बड़ा सुन्दर हुआ है—

अथापराह्णे भगवान् कृष्णः सङ्कर्षणान्वितः ।
मथुरां प्राविशद् गोपैर्दिदृक्षुः परिवारितः ॥
ददर्श तां स्फाटिकतुङ्गगोपुर
द्वारां बृहद्धेमकपाटतोरणाम् ।
ताम्रारकोष्ठां परिखादुरासदा
मुद्यानरम्योपवनोपशोभिताम् ॥
सौवर्णशृङ्गाटकहर्म्यनिष्कुटैः
श्रेणीसभाभिर्भवनैरुपस्कृताम् ।
वैदूर्यवज्रामलनीलविद्रुमै
मुक्ताहरिद्भिर्वलभीषु वेदिषु ॥
जुष्टेषु जालामुखरन्ध्रकुट्टिमे
ष्वाविष्टपारावतबर्हिनादिताम् ।
संसिक्तरथ्यापणमार्गचत्वरां
प्रकीर्णमाल्याङ्कुरलाजतण्डुलाम् ॥
आपूर्णकुम्भैर्दधिचन्दनोक्षितैः
प्रसूनदीपावलिभिः सपल्लवैः ।
सवृन्दरम्भाक्रमुकैः सकेतुभिः
स्वलङ्कृतद्वारगृहां सपट्टिकैः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ४१ । २० — २३)

मदेस, सरन, औसुर, ठाँउ और मधुपुरी आदि नामोंसे
प्रयोग—

गारी ? सुनी हरि—मदेस ।

—सूरदास

मानो ही मैं मा जाती मदेस ।

—[illegible] बरसीया

'मन ! पछितैहौ 'औसर' बीतें।

—सूरदास

ऐंगन करत स्याम सेवकन मैं सखा रहत बृज-बीच'।

—रामदास

महो ! कौ का माधुरी मकरन्दपति सेवा मधुपुरी'।

—श्रीउद्धवदास

श्रीनन्ददासजीकी इस उक्तिपर 'रसरूप'जीके ये छन्द बरबस याद आ जाते हैं—

उद्धवप्रबोधार्थ गोपाङ्गना उवाच

'कहा नाम आए कहाँ किहि पठयौ किहि काज।
आपन ही को ही अहो ! परम-साधु के साज॥

उद्धव उवाच

संगी हैं सलाही हैं सखाही हैं सँकोची साधु-
सिष्य हैं सुसील हैं सुदास हैं सुप्रेमी हैं।
मुख्य हैं मैनासी हैं मर्मग हैं मर्मौ मर्तौ
साँचे मीन-साज सपने हूँ न अनेमी हैं॥
रसरूप सुमिरें सुचित है कैं सावधान-
मान मौं कहिये सँमीप सब सैनी हैं।
सेवक हैं सखा हैं सचीव-सुभाषितक हैं
सूधौ 'ऊधौ' नाम-सौंच स्याम के सँदेसी हैं॥
सौंनी कौं बताइ करि सब कौं सुनाइ करि
कहिये सुनाइ करि जैसी कहीं चहिये।
गया सब रीत भयौ आनँद कौ योग-
जोग कीजिये बताइ कै वियोग तें न रहिए॥
रसरूप' कौन जानें कौन हिये कैसी कहीं
मर्यादा नियम चाहें जीभ तें न कहिये।
मन ही मैं सहिये पर मौन नहि रहिये जो
मौखियें नी कहिये न मौनौं राह गहिये॥

(२)

'गोपियोंकी प्रेम-व्यवस्था'

कवि-कथन

स्याँम—भगवान् श्रीकृष्णका नाम-विशेष जो उनके शरीरके काले रंगके कारण पड़ा था।

भगवान्‌के इस 'नील-सरस-रुह-स्याँम' नामपर कवि-कोविदोंने बड़ी-बड़ी उड़ानें उड़ी हैं,—अनोखी कल्पनियाँ की हैं। कोई आपके स्याम-स्वरूप होनेका कारण बतलाता हुआ कहता है—

'जसोदा कैं कारी-अँधेरी में जायौ।
जासौं 'कारो-कृष्ण' कहायौ" ॥"

—कोई कवि

अथवा—

कजरारी-अँखियान में बस्यौ रहत दिन-रात।
पीतम प्यारो हे सखी तातें 'साँवर-गात' ॥

—नागरीदास

क्योंकि—

'गोरे नंद जसोदा गोरी तुम्ह कित स्याँम सरीर।

—सूरदास

अथवा—

'गोरे श्री वृषभानुजू, हो गोरी-जसुमति माइ।
तुम्ह काहीं तें साँवरे लालन [illegible] पाइ ॥

—हरिदासजी

रघुनाथ कवि कहते हैं—

[illegible] पट-पीत कौ सुंदर सीस धरें [illegible]।
[illegible] सिंगार-श्रीतम कौं [illegible] ॥

गोकुल ग्वालन-संग रघुनाथ बा खोरि गलीन-गली बनवारी।
जा रंग-साँवरा हो तो न हरि की काहू की छबि कहूँ लग जाती॥

गोविन्द-स्वामी कहते हैं—

'रसमसे नैन-तुम्हारे ! श्याम हरि उठि भोर।
अरुन रैन पैन ककरारे, भूषन बिगसत जहाँ-तहाँ अधरन हमारे॥
निज मन करत गुसाँई ! कहाँ आवत आजे भौन-प्यारे।
गोविन्द प्रभु पिय जानें सु जानें आज आन पायु, जैसे तमचोर, तैसेई भन-भारे॥

यहाँ 'श्याम' तो गौर थी। अब 'श्याम' रंगकी दूसरी करामात देखिये—

'या अनुरागी-चित्त की गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यों ज्यों बूड़ै स्याम रंग त्यों-त्यों उज्जल होइ॥

—बिहारी

बेनी-प्रवीन कहते हैं —

भोर हीं आवत नंद-किसोर बिलोकति ही लखमी अति दौरी।
बेनी प्रवीन दोऊ कर सों गहि ग्वाल न लाई कचौरी॥
तामें कहा पु अजानी सखी सो चिन्ताहरी सै सखियन की चोरी।
तेरे-संग स्यों हरि रावरो साँवरी है गइ पीत-पिछौरी॥

एक और—

रस-ही-न्हात सिहरे ही स्याम ! कलिंदिजो स्याम भई बहुती है।
पानी हूँ पीउ हीं या मैं कहूँ तो यहै रंग लागि हूँ सरसै है॥
साँवरे अंग का रंग नहीं इहि मेरे सुअंगन मैं लगी है।
ऊँच-उरोजे सुमीरे ह मोहि सी गालैन मेरे गुराई न देह॥

—कोई कवि

नोट—शुद्ध शब्द 'श्याम' अथवा 'श्यामा' 'श्यामा'का अपभ्रंश 'सिमरा' नि जो 'जी' होता है।

सकल निर्गुन-कुसुम-तरु आया मोहन मन भव धाम ।

—सूरदास

धाम—आँख और रोशनीको भी कहते हैं। जैसे—

'धाम-धामु' धरकति सिखै आ हरि जीवन-मूरि ।
सौ तोही मों मेरि हौं राखि गुरहिं मूरि ॥ *

—बिहारी

निधि है यही तु 'धाम'। —ज्ञानजी

उर्दूमें 'बाम'का अर्थ—अटारी, कोठा, मकानके ऊपरवाली छत, घरका सबसे ऊपरवाला भाग, अथवा घरकी चोटीको कहते हैं, जैसे—

'तमाम रात हुई कर गया किनारा चाँद ।
बस उतरो 'बाम' से तुम जीते और हारा चाँद ॥
'दूर पर जैसे किसी बन में है चमके की झलक ।
कुछ सरे 'बाम' से वैसा ही तमाशा निकला ॥
'बाम' पर जो न आओगे तुम मरे महताब में ।
चाँदनी पड़ जायगी मैला बदन हो आफताब ॥

घर—गृह, मकान, वासस्थान। सुध—याद, स्मरण, चेत, स्मृति। आनंद या आनन्द—हर्ष, हर्ष, प्रसन्नता, खुशी, सुख, मोद, आह्लाद।

---

* बिहारीके इस दोहेपर एक ऐसी ही भावभरी यह 'आर्या' भी सुन्दर है, यथा—

'धमधमति धरकति घुम्मति सीदति पुनः पुनः स्विद्यते ।
प्रियकथामाप स्मरिता वियोगिनी धाम धामुस्थम् ॥'

—आर्या सप्तशती।

मुत् प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः ।
स्यादानन्दथुरानन्दशर्मशातसुखानि च ॥
(अमरकोष १ । ४ । २)

हिये (हृदय)—अन्तःकरण, मन, चित्त, छाती, दिल, कलेजा । हृदय, छातीके भीतर—और बाँयी ओर स्थित मांस-कोश या थैलीके आकारका एक भीतरी अवयव है जिसमें स्पन्दन होता रहता है और उसमेंसे होकर शुद्ध-रक्त नाड़ियोंद्वारा सारे शरीरमें संचार किया करता है ।

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः ।
(कोष)

प्रेम या प्रेम—प्रीति, अनुराग, स्नेह, प्रणय, मुहब्बत, प्यार, माया ।

प्रेमा ना प्रियता हार्दं प्रेम स्नेहोऽथ दोहदम् ।

यों तो 'प्रेम' शब्दका अर्थ—उसकी परिमित परिभाषा आज तक न बनी, क्योंकि—स्वर्गीय श्रीसत्यनारायणजीके—

'शब्द-सम्पति कछु जिनकि-जग की सब भाषा ।
जिन्हहिं न पै कहुँ एक प्रेम-हूँ की परिभाषा ॥'

क्योंकि प्रेमका स्वरूप अनिर्वचनीय है, अर्थात् कथनमें नहीं आ सकता—गूँगेके गुड़ जैसा है अनुभवसिद्ध है ।

"अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् मूकास्वादनवत्"
(नारदभक्तिसूत्र ५१, ५२)

यही श्रीसत्यनारायण कहते हैं

> कहत सबै कछु प्रेम-स्वाद मुख-बरनि न आवै।
> जदपि परम-आस्वाद मूक ज्यों भाव बतावै॥
> विद्या-बल तत्वनि के भेद प्रभेद बतावैं।
> गूँगे को गुर-स्वाद बतात बैठ्यो सिर नावें॥

उर्दूके शायर भी प्रेमको—इश्कको निरुपम कुछ न बतलाते हुए वही बेबसीका राग पीटते हैं—

> शायद इसी का नाम मुहब्बत है शेफ्ता।
> एक आग-सी है दिलमें हमारे लगी हुई॥
>
> —ग़ालिब

मीर कहते हैं—

> हम तौरे इश्क से तो वाकिफ नहीं हैं लेकिन।
> सीने में कोई जैसे दिल को मला करे है॥

एक और शायर साहब फर्माते हैं—

> 'इश्के-मुहब्बत क्या जानूँ लेकिन इतना तो जानूँ हूँ।
> अंदर-ही-अंदर सीने में मेरे दिल को कोई खाता है॥

लेकिन फिर भी प्रेमकी परिभाषाएँ चाहे वे अधूरी ही हैं, किसी-न-किसी रूपमें मिलती ही हैं। सबसे प्रथम 'भक्ति-सूत्र' में प्रेमकी परिभाषा करते हुए श्रीनारद मुनि कहते हैं—

> "गुणरहित कामनारहित प्रतिक्षणवर्धमान
> अविच्छिन्न सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्।"
>
> (नारदभक्तिसूत्र ५४)

अर्थात्—प्रेमका स्वरूप गुण और कामनाओंसे रहित,

प्रतिक्षण वर्द्धमान, एकरस, अत्यन्त-सूक्ष्म, केवल अनुभवगम्य है। जैसे—

> 'बिन गुन जोबन रूप धन बिन स्वारथ हित जानि ।
> सुद्ध-कामना तें रहित प्रेम सकल रस-खानि ॥
> अति सूच्छम कोमल अतिहि अति पतरौ अति दूर ।
> प्रेम कठिन सबतें सदौ,—नित इक रस भरपूर ॥
>
> 'इक अंगी बिन कारनें इक रस सदौं समान ।
> गनें प्रियहिं सरबस्व जो सोइ प्रेम प्रमान ॥"
>
> रहै स्वाभाविक, बिना-स्वारथ अचल महान ।
> सदौं-एकरस सुद्ध सोइ प्रेम अहै 'रसखानि' ॥"

भक्ति-रसामृत-सिंधुके कर्त्ता कहते हैं—

> 'सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयाङ्कितः ।
> भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमा निगद्यते ॥

अथवा—

> दर्शने स्पर्शने वापि श्रवणे भाषणेऽपि वा ।
> यत्र द्रवत्यन्तरङ्गं स स्नेह इति कथ्यते ॥

करुण-रसाचार्य महाकवि श्रीभवभूतिजी अपने 'उत्तर राम-चरित' नाटकमें प्रेम निरूपण करते हुए कहते हैं—

> 'अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
> विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः ।
> कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्स्नेहसारे स्थितं
> भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते ॥"

अर्थात्—स्वर्गीय कवि श्रीसत्यनारायणजीके शब्दोंमें—

सुख-दुख में नित एक हृदय का प्रिय-विराम-थल।
सब विधि में अनुकूल, विपद्-कष्टमय अविकल॥
जासु सरसता सकै न हरि कबहूँ जरताई।
ज्यों-ज्यों बढ़त सघन सघन सुंदर सुखदाई॥
जो अवसर पर संकोच तजि परिणत ह्वै अनुराग सत।
सो दुर्लभ साधन प्रेम अस बँड़भागी कोउ लहत॥

कबीर-साहब फरमाते हैं—

छिन हिं चढ़ै छिन ऊतरै सो तो प्रेम न होइ।
अघट प्रेम पिंजर बसै प्रेम कहावै सोइ॥

सच-बात तो यह है कि प्रेमकी कोई ठीक-ठीक परिभाषा हो ही नहीं सकती, क्योंकि प्रेम ईश्वरमय है—ईश्वर ही है, अथवा ईश्वर ही प्रेम है। जैसे—

नित्य विचारहु जोग सकल उपदेस यही दर।
परमेसुर-सो प्रेम प्रेम-मय शिव परमेसुर॥

अथवा—

'प्रेम हरी को रूप है त्यों हरि प्रेम स्वरूप।
एक होइ द्वै यों लसैं ज्यों सूरज औ धूप॥'

—रसखान

यही बात हजरत 'मीर' फरमाते हैं—

ए न होवै तो नज्म कुल उठ जाय।
सच्चे हैं शायरों खुदा है इश्क॥

अस्तु, परम-शुद्ध और विशाल अर्थमें 'प्रेम' ईश्वरका ही स्वरूप है, इसलिये अधिकांश धर्मोंके अनुसार प्रेम ही ईश्वर, या ईश्वर

ही प्रेम—अथवा प्रेम ही परम धर्म माना जाता है—गाया जाता है और यही भक्तिका परमात्माका स्वरूप समझकर मोक्ष-प्राप्तिका परम-साधन बतलाया जाता है। यों तो सत्-शास्त्रकारोंने, अथवा वैष्णव-साहित्य-सुवेत्ताओंने प्रेमके अनेकानेक भेद विभेद विभूषित किये हैं, पर मुख्यतम रूपसे—उत्तम, मध्यम और अधम अर्थात् निकृष्ट ये तीन भेद ही कहे हैं। उर्दू-साहित्य-सयानोंने इस इश्कके केवल दो ही भेद माने हैं—मजाजी और हकीकी। अस्तु,

> प्रेम-समुद्र अपार है, वाँ सिर्फ न अंत।
> तेहि समुद्रमें तो परा तीर न मिलत तुरत॥
>
> —सूरसुरभद्र

अथवा—

> इश्कके तीर मिली है न मिलेगी हमदम।
> देखने के लिये चाहे उन्हें जितना देखो॥"

भारतीय प्रेम-परिभाषा जहाँ उसे ईश्वरका रूप ही मानती है, वहाँ उससे इतर देशोंने प्रेमकी परिभाषा भिन्न प्रकारसे की है। यथा—

१ अमरीका—"स्वार्थपर प्यार, मूल कोषमार।"

२ अरब—"प्रेम सात सेकंड, कल्पना सात मिनट और अप्रेममना जीवनभर टिकती है।"

३ आयर्लैंड—"एक पुरुष अपनी प्रथमाको सबसे अधिक, पत्नीको सबसे अधिक अच्छी भाँति और माँको सबसे अधिक समय तक प्यार करता है।"

४ आयर्लैंड—"सभी पुरुषोंसे प्रेम करो, मुस्कराकर छोड़कर।"

५ इस्तर—"सूप (एक प्रकार मांससे बना पय) और प्रममें प्रथम (सूप) ही उत्तम होता है।"

६ इग्लैंड—"वह बिल्कुल प्रम नहीं करता, जो जानता है कि अन्त किस प्रकार किया जाता है।"

७ जर्मनी—"प्रम दृष्टिको छीनता है विवाह पुन प्रदान करता है।"

८ जापान "प्रमार्की दृष्टि चचकक रोग, गालोंमें पड़नेवाले सुन्दर गढ़े होते हैं।"

९ डेन्मार्क—"यदि सोना बरसे तो भी प्रमी कभी धनी नहीं होगा।"

१० फ्रांस—"बिना इर्ष्याके कभी प्रम नहीं होता।"

११ फ्रांस—"पुराना प्रम और पुराने कोयले जल्दी आग पकड़ते हैं।"

१२ मिस्त्रिशियन प्रदेश—"बचपनका प्रम अधूरा और बूढ़ा प्र ठंडा होता है।"

१३ मिश्र—"प्रमीका प्रहार उतना ही मधुर होता है, जितना कि किसमिस खाना।"

१४ पोलैंड—"प्रम पुरुषकी आँखोंमे और स्त्रीके कानोंमें प्रवेश करता है।"

१५ पोलैंड—"जो बहुत प्यार करता है, वही बहुत मारता है।"

१६ रूस—"प्रम और अंडा ताजा ही स्वादिष्ट होता है।"

१७ अग्नि-प्रवेश—"प्रेमी, पागल।"

१८ बाल्टिक-प्रदेश—"प्रेमको शीरेकी भाँति फैलाया जा सकता है।"

१९ स्कॉटलैंड—"किसीकी प्रेमिका कुरूप नहीं होती।"

२० स्पेन—"प्रेम मोचकी भाँति होता है जिसकी पुनरावृत्ति अधिक सरलतासे हो जाती है।"

२१ स्वीडन—"प्रेम या पाजामामें लगी आगको छिपाना सरल नहीं होता।"

२२ हंगरी—"स्वप्नों और प्रेममें कुछ भी असम्भव नहीं।"

२३ फ्रेंच—"प्रेमकी जीभ उसकी आँखोंमें होती है।"

बेली—कुछ लोग बेल, बेलि, या वल्ली और वनस्पति-शास्त्रके अनुसार वे छोटे-छोटे तथा कोमल पौधे जिनमें पौढ़ या मोटा-तना नहीं होते और अपने बलपर ही ऊपरकी ओर उठते हैं, पर बढ़ नहीं सकते। इसीसे इसे लता व वल्ली कहते हैं।

'भवकाण्डे स्तम्बगुल्मी वल्ली तु व्रततिर्लता।'
(अमरकोश २।४।)

साधारणतः बेल दो प्रकारकी होती है। एक वह जो कि अपने उत्पन्न होनेके स्थानसे आस-पासके पृथ्वी तलपर अथवा इसी तरह किसी अन्य तलपर दूरतक फैलती चली जाती है। दूसरी वह जो कि आस-पासके वृक्षों अथवा इसी कार्यके लिये लगाये गये बाँस आदिके सहारे उनके चारों ओर घूमती हुई ऊपरकी ओर जाती है।

द्रुम—वृक्ष, महीरुह, शाखी, विटपी, पादप, तरु, अनोकह, कुट, साल, पलाशी, द्रु और अगमको कहते हैं।

> वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः।
> अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः॥
> (अमरकोष २।४।५)

फूली—फूलना, विकसित होना, खिलना, आनन्दित होना, श्रीनन्ददासजीके—'प्रेम-बेली-द्रुम-फूली' इस पदांशपर श्रीसत्यनारायण-जीकी एक बड़ी सरस सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

> 'कृष्ण-विरह की बेलि, बढ़ी या उर हरियाई।
> सोचन-अश्रु-विमोचन सींच सघन अधिकाई॥
> पाइ प्रेम-रस बढ़ि चली तन-तन लिपटी जाइ।
> कैसे फूलि फलीं जो बिथा न बरनी जाइ॥
> —अकथ याकी कथा।

पुलकि—पुलकित होकर, हर्षित होकर या हर्षसे—प्रेमसे। रोम या रोम—रोयाँ, लोम, देहके—शरीरके बाल। छए—छा गये, फैल गये।

'पुलकि—रोम सब अँग छए' पर बिहारीकी उक्ति बड़ी सामयिक है। देखिये न, जैसे—

> "मैं यह तोही मैं लखी भगति-अपूरब बाल।
> लहि प्रसाद-माला जु भौ तनु कदंब की माल॥"

अर्थात्—

"अपूरब-भक्ति यह तुम में ही देखी मैंने पै—साजन !
कुरम-सा छिप गया तन देखे ही परसत की साजन ॥
—देवीप्रसाद 'प्रीतम'"

कंठ-घुटयौ—कण्ठ, अर्थात् गला। घुटयौ—घुटा, मुँदा—रुँधा अथवा कण्ठ-घुटना—गलेसे आवाज न निकलना। गद्गद-गिरा—गद्गद, अत्यन्त हर्ष, प्रेम, शोक, श्रद्धा आदिके कारण—अथवा उसके आवेगसे इतना पूर्ण कि अपने आपेको भूल जाय और स्पष्ट शब्दका उच्चारण न कर सके। गिरा—वाणी, वचन। बोलनेकी वह शक्ति जिससे मनुष्य बातें करता है। बैन—वचन, बोली, शब्द, बात, कथन। बिवस्था, वा व्यवस्था—किसी कार्यका वह विधान जो कि शास्त्र-द्वारा निश्चित वा निर्धारित हो।

स्याँम, बाँम, घर, सुधि, आनँद, द्वै, प्रेम, बैठी, तुम, लखि-रोंम, गद्गद-गिरा और बैन—शब्दोंके सगम प्रयोग। यथा—

"सोहत ओढ़ें पीत-पट 'स्याँम' सलोने-गात।"
—बिहारी

"बैरि केउ सब सदा सतावे काम न पावें "बाँम"।
—दीनस्वामी

"आज 'घर' मंगलचार—बधाए।
—रामदास

सुधि न रहत सरीर की"   ।"
—पंडितराज जगन्नाथ

"द्वार आनँद अति ही बरसी सुफल भए दोऊ नैन।"
—रसिकदास

"हाँ" की कासों कहौं मैं पीर।" —रसिक-माधुरी

"प्रेम" करि काहू सुख न लह्यौ।' —सूरदास

"श्रीवृंदावन फूलि रही अलि— 'बेली'।" —रसिक-किशोरी

'यमुना-पुलिन-कुंज गह्वर की
कोकिल है "दुम" कूक मचाऊँ।" —रसिक-किशोरी

"पुलकि-रोम" सब अंग-अंग प्रगट, बरनु छवि ऐसी देत।
अंकुर उठे प्रेम के मानों सरस हिय के खेत॥"

—परमानन्ददास

"तब बोली व्रजबाल लाल मोहन अनुरागी।
सुंदर 'मधुपद-गिरा' निरवारहि मधुरी बानी॥'

—नन्ददास

"सुन केशव के 'बोल' प्रेम करेरे करपी।"

—तुलसीदास

कुछ ऐसी ही प्रेम-व्यवस्थाका वर्णन श्रीशुक भी नन्द-बाबाकी (बाबत) करते हैं, यथा—

"इति संस्मृत्य संस्मृत्य नन्दः कृष्णानुरक्तधीः।
अत्युत्कण्ठोऽभवत् तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः॥"
—श्रीमद्भागवत १ ।४६ । २७

अब इस प्रेम-व्यवस्थापर श्रीस्वर्गीय 'रत्नाकर' की भी बानगी देखिये, यथा—

"धाईं धाम-धाम तें अवाई सुनि ऊधव की
बाम बाम-बाम अभिलाषनि सौं ज्वै रहीं।
कहै 'रत्नाकर' पै बिकल बिलोकि तिन्हैं—
सकल करेजौ थाँमि आपुनपौ ज्वै रहीं॥

केलि मिस-थाप केलि ऐसि तिन जौवन की
जौवन की लागि आतुरी सौं मन ह्वै रही ।
मौन रोकि साँस रोकि, रुदन-उसास रोकि,
मूरति निरास की-सी आस-भरी ह्वै रही ॥”

अथवा—

“ऐसे मन-भावन के ऊधव के आवन की—
सुधि ब्रज-बासनि मैं पावन जबै लगीं ।
कहै “रत्नाकर” गुवालिनि की झौरि-झौरि
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं ॥
उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै—
पेखि-पेखि पाती छाती छोहन छबै लगीं ।
हम कौं लिख्यौ है कहा ? हम कौं लिख्यौ है कहा ?
हम कौं लिख्यौ है कहा ? कहन सबै लगीं ॥”*

एक और—

ऊधो ! आप-आप, हरि की सौंसी आप—
सुनि गोपी-गोप आप मन धीर ना धरति हैं ।
दौरी कढ़ि पौरी छढ़ि भौरी की भ्रमत मन,
शुभ तन ज्यौं गुन-कमोरा विहरति हैं ॥
हैं गई विकल-बाल बालम-वियोग भरी
जोग की सुनत बात गात ज्यौं जरत हैं ।
भारी भए भूषन सम्हारे न परत अंग-
आगे कौं धरति पग पाछे कौं परति हैं ॥

—गोपी-प्रेम-पीयूष-प्रवाह

* रत्नाकरजी के ऊपर दिये छन्दपर मीराका एक पद याद आ गया है

यथा—

'आली मधुबन ही तें आई ।
सुंदर श्याम-सलोना किधौं पठई क्यों सुनो री माई ?
अपने-अपने गृह ते दौरीं लै पाती उर लाई ।
नैननि निरखि निमेष न खंडित प्रेम बिथा न बुझाई ॥
कहत कहाँ सुनौ सब गोकुल हरि बिनु कछु न सुहाई ।
'सूरदास' प्रभु कौन चूक तें स्याम सुरति बिसराई ॥

मान-समानांतर

कथोपकथन

(४)

अरघासन—अर्घ और आसन, सम्मानार्थ जलसे अभिसिंचन, षोडशोपचार-पूजाका प्रथम उपकरण, जल, दूध, कुशाग्र, दही, सरसों और तण्डुल तथा यव आदि मिलाकर देव-विशेषको अर्पण करना । सामने खड़े, पानी पिलाना । मोल आदि—

'मूल्ये पूजाविधावर्घो अंहो दुःखव्यसनेष्वघम् ।'
—अमरकोश ३ । ३ । २७

आसन—पूजनके समय बैठनेका अथवा किसी बड़े पुरुषके घर आनेपर बिठलाने देनेकी वस्तुको आसन कहा जाता है । पीठ, पीढ़ा, चौकी, हाथीका कंधा, शत्रु या विजिगीषुका, अवसर प्रतीक्षार्थ अवस्थान, कुश या ऊनका बना हुआ बिछाने योग्य वस्त्र-विशेष ।

'पेचुकः करभुजो पीपः प्रतीपः पीठमासनम् ।'
—अमरकोश २ । ६ । ४

अथवा—

'आसनं' स्कन्धदेशः स्यात्   ।'

—अमरकोष २।८।७

ऐसे तो योग-शास्त्रानुसार तथा कामशास्त्रानुसार आसन चौरासी प्रकारके कहे जाते हैं, पर अष्टाङ्ग-योगके तीसरे-अङ्गानुसार "आसन" पाँच प्रकार माना जाता है, जैसे कि "पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन"। प्रकारान्तरसे—पद्मासन, सिद्धासन, गरुड़ासन, कमलासन और मयूरासन भी कहे जाते हैं आदि ~   ।

परिकंमा—परिकरिमा या परिक्रमा, अर्थात् किसी वस्तु या देवताके चारों ओर घूमना, फिरना, चक्कर लगाना। *स्यौम-सखा*—स्यामका सखा, मित्र, बन्धु, साथी, संगी आदि   ।

वयस्यः स्निग्धः सवयाः अथ मित्रं सखा सुहृत्।

—अमरकोष २।८।१२

निज—अन्तरङ्गीय, आत्मीय, स्वकीय, खास, प्राइवेट, मुख्य, प्रधान। *हित*—हितसे, प्रेमसे। *सेवा*—शुश्रूषा सेवा, किसीको आराम पहुँचानेकी क्रिया, खासी टहल, खिदमत, परिचर्या। *बूझत*—पूछत। *नँद-लाल*—नंदके लाल, प्यारे बेटे, लड़के। *नंद*—गोप जातिके एक प्रमुख सरदार, नेता, राजा, जिनके यहाँ भगवान् श्रीकृष्णने बाल-क्रीड़ा की थी।

कहते हैं कि—नन्दबाबाके पिताका नाम 'पर्जन्य' और 'माता' का नाम 'वरीयसी' था और इनके पाँच भाई जैसे—

"उपनन्द, अभिनन्द, नन्द, सुनन्द और नन्दन तथा दो बहिनें "नन्दनी और सुनंदा" थीं, जो "महीन" और "सुभानु" नामक एक प्रतिष्ठित गोपको ब्याही गयी थीं। नन्दजीके बड़े भाई उपनन्दजीकी दो सन्तानोंका उल्लेख मिलता है—कन्या "श्याम देवी, जो श्रीकृष्णके ही समतुल्य रस-रंगमें थी और पुत्र श्रीकृष्ण जो श्रीनन्दबाबा—द्वारा गोदमें बैठाये जानेके कारण उनके पुत्र कहलाते थे। उपनन्दसे छोटे अभिनन्दके "सुबाहु" नन्दबाबाके भगवान् श्रीकृष्ण, सुनन्दके "सुबल" और नन्दनके तोक या तोकक नामके पुत्र थे। श्रीनन्दबाबाका वर्ण गौर था और केशराशि कुछ काली और कुछ सफेद मिली हुई थी। तोंद कुछ बड़ी, छाती ऊँची और पेशानी विस्तृत थी तथा आप नीले रंगके पहिरावा करते थे। आपकी पत्नीका नाम श्री "यशोदा" था। जो कि शरीरसे स्थूल व रंग कुछ साँवला-सा था और आप सदा पीले रंगके पहिना करती थीं, श्रीयशोदा-मैयाका दूसरा नाम "देवकी" भी मिलता है। श्रीनन्दबाबाके भाइयोंके हिस्सेमें जो लाख गैयें मिली थीं, पर थीं इनके—बहत्तर करोड़। उपनन्दजीने और अभिनन्दजीने कभी राज्य नहीं किया इसका कुछ भी उल्लेख नहीं मिलता—कहीं भी इसका पता नहीं चलता, अस्तु श्रीनन्दराय यों ही राजा कहे जाते थे, अर्थात् व्रजराज या व्रजराजके नामसे आप ही सम्बोधित किये जाते थे। आपके कुल देवता—नारायण, वेद साम, शाखा कौथुमी और हरिवंश पुराणानुसार वेद-यजु, शाखा माध्यन्दिनी तथा कुल-पुरोहित शाण्डिल्य-ऋषि कहा जाता है। श्रीनन्दबाबाकी राजधानी गोकुल और नंदिग्राम थी आदि-आदि।

धीर-बटी ज्यों गोपिका मारी ज्ञान-समाज।
मधु बंक जीतें इते, कहँ 'मधुकर' राज॥

—रसनीध

"मधु" भयो मारि कै एक बल पै बात सुनी।"

—सूरदास

नैक मेरे "मधीप" कछु न, कहो लौंगे कबीरा!"

—नागरीदास

"मोरे"—ई गुन रीझिबो बिसराई वह बानि।

—बिहारी

"सब "मधि" कछु निर्मल जानिकी एक-रीति हुक देौ ~ १"

—रसखानि

कुछ यही भाव श्रीशुक भी उद्धवजीसे कहलाते हैं, यथा—

"आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान्सात्वतां पतिः॥"

श्रीमद्भागवत १०।४६।३४

इसी प्रसंगपर अब जरा श्रीसूरकी भी बानगी निरखिये, जैसे—

गोपी, सुनौ हरि-कुसलात।
कंस-नृप कौं मारि करि, मधुपुरी सिंह-नाथ॥
बीरीत-बिधि ब्योहार करी प्रभौ, समर्थ कों राज।
नगर-लोग सुखी बसत हैं भए सुख के काज॥
इहै पाती लिखी नव कछु कह्यो सुख-सँदेस।
सूर" त्रिगुन-नाथ करी कै तबहु तनक बरेस॥

अथवा—

गोपी सुनौ हरि-सँदेस।
गए हैं अक्रूर-मधुपुर हमरो कम-जोल॥

एकल-नारकी कमल-नैहरे बालुक-छोरती बाइ।
कुब्जिका-बाहुल-सुलक, एक बलि-मिराइ॥
मात-पिता के बंद छोरे वासुदेव-कुमार।
राम कीन्हों उग्रसेनहिं जैसार मिल-बार-बार॥
ऐसो गुण को गहर-ग्याती छीलि-लिखै-निवारि।
'सूर' पानी राई किमि मोहि जौं घोष-कुमारि॥

कवि-वचन

(१)

मोहन—शुद्ध मोहन अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णका नामविशेष अथवा—मोहन, मोहनेवाले, अपनी ओर आकर्षित करनेवाले—खींचनेवाले। अथवा मोहन, अर्थात् जिसे मोह न हो, प्यार न हो, मुहब्बत न हो आदि-आदि।

मोहन शब्दपर बाबा 'रस-निधि'जीकी फबती भी सुन लीजिये, जैसे—

"मोहन तेरे नाम की अबकी पा लिया थोर।
मनमोहन कौ छोड़ि कैं, चले मधुपुरी-ओर॥"

अथवा—

"'रसनिधि' मोहन नाम कौ अरथ न किय निरधार।
प्रथम समझि सब कीजतो याही प्रीति-विचार॥"

—रतन हजारा

सुमरन है आयो—स्मरण हो आया, याद आ गया सुमरन—याद, ध्यान।

चिन्ता तु स्मृतिराख्याता स्मरणं सस्पृह पुनः।
वस्त्वन्तरोत्कण्ठिके तस्मिन्नभिध्यातुभयोरपि॥

—शब्दार्णव

आनन—मुख, मुँह, चेहरा, वदन, आस्य।

वक्त्रास्ये वदनं तुण्डं 'आननं' लपनं मुखम्।

—अमरकोश

कमल—पुष्प-विशेष, जिसको पद्म, अम्बुज, जलज आदि भी कहते हैं। यथा—

वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्।
सहस्रपत्रं 'कमलं' शतपत्रं कुशेशयम्॥

—अमरकोश १ । १ । १९

कमल पानीसे उत्पन्न एक पुष्प, जो संसारके सभी स्थानोंमें प्रायः पाया जाता है। यह पुष्प झीलों, तालाबों और छोटे-बड़ोंसे नदियोंमें तथा गड्ढोंमें जो कि पानीसे—जलसे पूर्ण हो, होता है। रंग और आकारके भेदसे इसकी अनेकानेक जातियाँ होती हैं, किंतु विशेष रूपसे लाल, सफेद, पीला और नीला ही अधिक देखनेमें आता है। कमलकी पीड़ पानीमें चाहे जौन था ऊ अंकुरसे उत्पन्न ऊपर नहीं आती। कमलकी पत्तियाँ गोल थाली-सदृश होती हैं और बीचके डंठलमें पत्तेके तलेके साथ जुड़ी रहती हैं। इन पत्तियोंको 'पुरइन' भी कहा जाता है, आदि-आदि।

अंग—शरीर, अथवा शरीरका कोई हिस्सा, अवयव, बदन, देह, तन, गात्र, जिस्म।

"अङ्गं" प्रतीकोऽवयवोऽपघनोऽथ कलेवरम्।
गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः॥"

—अमरकोश २ । ६ । ११

अङ्गके और भी अर्थ होते हैं। जैसे—भाग, अंश, टुकड़ा,

खण्ड, उपाय, सहायक, तरफदार, सुहृद्, प्रत्ययमुक्त शब्दका प्रत्यय-रहित भाग, प्रकृति, क्रम-क्रम, वह साधन जिसके द्वारा कार्य सम्पादित किया जाय, देशविशेषका नाम, भुवनकी एक राजा, एक मतका नाम, एक सरस सम्बोधन, प्रिय, प्रियवर, ६ की संख्या, ओर, तरफ, नाटकमें शृंगार और गीत छोड़कर अन्य अप्रधान रस, नाटकके नायक व अङ्गिका कार्य साधक-पात्र, वेदके ७ अङ्ग, जैसे—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द। सेनाके चार विभाग व अङ्ग जैसे—हाथी, घोड़े रथ और पैदल। योगके आठ अङ्ग जैसे—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि। राजनीतिके सात अङ्ग, जैसे—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना। फिर पुन को भी अङ्ग कहते हैं। जसे—

"पुनरत्र्थेऽङ्ग निम्नार्थां तुपु सुखं प्रयासने॥

आवेस—शुद्ध आवेश, अर्थात् आतुरता, व्याप्ति, संचार, दौरा, जोश, चित्तकी प्रेरणा, झोंक, आवेग, वेग, प्रवेश, बिहवल—शुद्ध विह्वल, अर्थात् घबराकर, व्याकुल, किसी मनोवेगके कारण चंचल होना। जैसे—

व्यसनार्त्तोपरक्तौ द्वौ विहस्तव्याकुलौ समौ।
विक्लवो 'विह्वलः' स्यात्तु विवशोऽरिष्टदुष्टधीः॥

—अमरकोष

धरनी—शुद्ध धरणी, पृथ्वी, भूमि, जमीन। अब-बनिता—अबकी स्त्रियाँ व स्त्री। मुरझाए—मुरझाकर, उदास होकर, निष्प्रभ होकर सूखकर। प्रबोध—ज्ञान, चेतावनी, यथार्थ ज्ञान, पूर्णबोध, सान्त्वना, आश्वासन, ढाढ़स, तसल्ली, दिलासा।

मोहन, घुँमरन, चौंनन, फँसन, अंग, आवस, विह्वल, परनी,
मुरझाइ, प्रबोध आदि के सरस प्रयोग ।

"महेश्वरचन की सिखर तें हो "मोहन" होती है देर ।
—रसिकराम

राम-नाम घुँमरन नहिं कियो त्यों ही जनम गँवायो हो ।
—रामदास

नित प्रति एको ही रहति चौंसर ओप-उपास ।
—बिहारी

मन सौं भावत फँसन चितावत तापै नावत नाम-नाम—
चौकी के प्रभु हाथ पूरि राखो दूरैगी सौतिन की नाक ॥
—नैनी

अथवा—

क्या कही सखी ! 'चौंनन-चमक' की सोभा !
—वृन्दावनदास

अंग" अमित अनु भरी माधुरी सोभा सहज सिखाई ।"
—परमानन्ददास

"या मूरति के देखति कबहु मो-मन लखि आवेस जनायो ।"
—सेमरसिक

विह्वल" है गइ बाल आक सौं अवलम्ब बोलैं ।"
—नन्ददास

भूषन-बसन उतारि द आपन बैठि रही धुप परनी ।
—रसिक-प्रीतम

"मन हरि लीनों स्याम परी राधे मुरझाई' ।
बहुत सिथिल भई देह बात कछु कही न जाई ॥
—नंददास

'कहु 'प्रबोध' कबहुँ क्यों दीजै।

—ज्ञानदास

ब्रजवनिता' अति मधुक मधुप नहिं मेरी रोहैं।

—गोपालदास

उद्धव-वचन

(७)

दूरि—दूर, पृथक् अलग। ग्यान—ज्ञान, बोध, जानकारी, प्रतीति, अथवा आत्माका गुण-विशेष। मोक्षके विषयमें जो बुद्धि उसे भी ज्ञान कहा जाता है। यथा—

'मोक्षे धीर्ज्ञानं ।

—अमरकोश १।५।१८

अथवा—वस्तुओं और विषयोंकी वह भावना जो मन या आत्माको हो।

न्याय और दर्शनकार—'जब विषयोंका इंद्रियोंके साथ इंद्रियोंका मनके साथ और मनका आत्माके साथ संपूर्ण संबंध स्थापित हो तब 'ज्ञान'की उत्पत्ति मानते हैं, क्योंकि न्यायमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द—आदि चार प्रमाण[1] ज्ञानके—ज्ञान होनेके माने गये हैं। प्राणि-विज्ञानानुसार मस्तकके भीतर जो मज्जा-तन्तु-जाल या नाड़ियाँ अथवा कोश हैं, चेतन-व्यापार या 'ज्ञान' उन्हींकी क्रियाओंसे संबंधित है, इसलिये इनमें क्रियाओंको ग्रहण और उत्पन्न करनेकी शक्ति है। जब यह शक्ति ही इंद्रियोंके साथ विषय-

१ सांख्य—प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीन ही प्रमाण मानता है,क्योंकि उपमान इनके अंतर्गत आ जाता है।

संयोग-द्वारा अथवा उक्त शक्तिसंचालित-नाड़ियोंके द्वारा भीतर जाती है और कोशोंको प्रोत्साहित करती हुई परमाणुओंमें उत्तेजना उत्पन्न कर बाहर आती है और यही शक्ति कहलाती है। भूतवादियोंके अनुसार उक्त शक्ति ही नाड़ियों और कोशोंकी मिश्र 'चेतना' कहलाती है; पर है यह एक स्वतन्त्र शक्ति ही।

पाश्चात्य दर्शनोंमें भी—विषयोंके साथ इंद्रियोंके सन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष-ज्ञानको ही ज्ञानका मूल या प्रथम रूप माना जाता है। किसी वस्तु—ज्ञानके लिये यह भावना आवश्यक है कि जिस का ज्ञान करना है वह वस्तु कुछ वस्तुओंके समान है—अथवा भिन्न, क्योंकि बिना साधर्म्य और वैधर्म्यकी भावनाके किसी प्रकारका ज्ञान हो ही नहीं सकता—असंभव सा है और इस साक्षात्कारणरूप ज्ञानसे ही आगे चलकर सिद्धान्तरूप ज्ञानके लिये संयोग, सहकारणकी भावनाएँ होती हैं, जो व्याप्तिरूपसे ज्ञान कहलाता है। अस्तु उक्त ज्ञान—प्रमा और अप्रमा, अर्थात् यथार्थ-ज्ञान और अयथार्थ-ज्ञानरूप दो भेदोंमें विभक्त है। वेदान्तमें आत्माको ही ज्ञानस्वरूप माना है, अतएव उक्त मतानुसार सबका पृथक्-पृथक् ज्ञान नहीं हो सकता। एक वस्तुसे दूसरी वस्तुओंमें अथवा एकके ज्ञानसे दूसरेके ज्ञानमें जो विभिन्नता विभूषित है, वह विषय-रूप उपाधिका कारण है, वास्तविक-ज्ञान तो एक ही है जिसके अनुसार सब विभिन्नता-भूषित पदार्थोंके मध्य केवल एक चिद्रूपकी सत्ता या सत्ता ही बोध होता है, आदि—आदि।

अखिल-बिस्व-परिपूरि—ओर (आदि) से आखीर (अंत) तक सारा ब्रह्माण्ड। अखिल—संपूर्ण, समग्र, सब, पूरा, बिल्कुल

'विश्व' अथवा विष —चौदहों भुवनोंका समूह, समस्त ब्रह्माण्ड, सारा संसार, जगत्, दुनियाँ। विश्व, सबको भी कहते हैं। यथा—

'विश्वमशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम्।'

भर-पूर—पूरी तरहसे भरा, पूरा पूरा, जिसमें कुछ भी कमी न हो। पूर्णरूपसे, अच्छी तरह। दिसैसो—प्रतीत होना, भासित। लोह—लोहा, धातुविशेष। दारु—लकड़ी, काष्ठ या काठ। पाखान—शुद्ध पाषाण, पत्थर या पथर।

पाषाण प्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्।

मही—पृथ्वी, जमीन, धरती। अकास—शुद्ध आकाश, अर्थात् गगन, अंबर, शून्य। सचर—सचल, अर्थात् संपूर्ण चल—चलनेवाली वस्तु, चर, जंगम।

अचर—अचल, अर्थात् न चलनेवाली वस्तु, जड़-पदार्थ।

जोति—शुद्ध ज्योति, अर्थात् प्रकाश, उजाला, लौ। ब्रह्म—वह चेतन-सत्ता जो कि जगत्का कारण है। वह सत्, चित् और आनन्द-स्वरूप तत्त्व जिसके अतिरिक्त और जो प्रतीति होता है वह सब मिथ्या है—असत् है। ईश्वर, जगत् कर्ता आदि आदि।[1]

---

१ ब्रह्म प्रति श्रीशंकराचार्य कहते हैं—

"बृहत्त्वाद्बृंहणत्वाच्च सत्यादिलक्षणं—ब्रह्म।"

अर्थात्—बड़े तथा बढ़ानेवाले होनेसे भगवान् सत्यादि-लक्षण-विशिष्ट ब्रह्म हैं, जैसा कि श्रुति प्रतिपादन करती है—

"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म। (तैत्तिरीयोपनिषद् २।१)

विष्णुपुराणमें कहा है—

"प्रत्यस्तमितभेदं यत् सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं "ब्रह्म" संज्ञितम्॥"
(विष्णुपुराण ६।७।५३)

कहते हैं—ब्रह्म जगत्का कारण है और यही उसके तटस्थताका लक्षण है। ब्रह्म सच्चिदानन्द, अखण्ड, नित्य, निर्विकार, निर्गुण, निर्लेप, निःसंग और अद्वितीय है, जो उसके स्वरूप-लक्षणका द्योतक है। जगत्का कारण होनेपर भी जैसी कि सांख्यकी प्रकृति या वैशेषिकका परमाणु है, उस प्रकार ब्रह्म परिणामी या आरम्भक नहीं। वह जगत्का अभिन्न—निमित्तोपादान विवर्त्त-कारण है। अस्तु, ब्रह्म परिणाम या विकार नहीं, अपितु विवर्त्त है। किसी वस्तुका कुछ और ही हो जाना—उसका रूपान्तर हो जाना जिससे उसका असली स्वरूप ज्ञात न हो वह विकार या परिणाम कहा जाता है और उसका उस जैसी आकृतिवाला कुछ और प्रतीति होना 'विवर्त्त' कहा जाता है। यों तो नाम और रूपकी उत्पत्ति ही नाम-सृष्टि कही जाती है, पर ये दोनों नाम और रूप ब्रह्मके कोई अवयव नहीं, क्योंकि वह उक्त तीनों प्रकारके भेदोंसे पृथक् है—रहित है। ब्रह्मका सम्यक्-निरूपण करनेवाले आदि ग्रन्थ वेद और उपनिषद् हैं। किंतु वे भी उसे 'नेति नेति' अर्थात् 'यह नहीं, यह नहीं' कहकर उसे प्रत्यक्षोंसे परे—अगम्य मनसे हैं। कोई-कोई जीवात्माको ब्रह्मका अंश मानते हैं। पर शुद्ध-अद्वैत-दृष्टिमें जीवात्मा ब्रह्मका अंश या कोई अगम-भेद नहीं, अपितु अपनेको परिच्छिन्न और माया-निर्लिप्त समझता हुआ ब्रह्म ही है, इसीसे 'तत्त्वमसि' वाक्य-द्वारा आत्मा और ब्रह्मका अभेद व्यक्षित किया जाता है। शुद्ध और अद्वैत क्या?

"एतन्मते सुनिष्पाम्न सुनिष्पाम्न साङ्ख्ये कार्यकारणे।"

> ' तद्विपुस्यर्थमात्रार्थैः पर ' शुद्ध विशेषितम् ।''
> द्विधाज्ञानं हि पदार्थस्यात्मकपारम्भा मुहुः ।
> ईशाधीशात्मना वापि कार्यकारणतोऽथवा ॥'
> ' द्वीत यदेव द्वैत' स्याद्द्वैत' मुततोऽन्यथा ।''

अस्तु—

> 'शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः ।
> अद्वैत शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ॥''
>
> —शुद्धाद्वैत मार्तण्ड

परकास—शुभ्र प्रकाश, अर्थात् जिसके द्वारा वस्तुओंका स्वरूप दृष्टिगोचर हो अथवा जिसके भीतर पड़कर चीजें दिखलायी पड़ें। दीप्ति, आभा, आलोक, ज्योति, चमक, तेज।

> 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः ।
> रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः ॥
>
> —अमरकोश १ । ३ । ३५ । ३६

वैज्ञानिक कहते हैं कि जिस प्रकार, ताप गतिशक्तिका एक स्वरूप है उसी प्रकार प्रकाश भी गतिशक्तिका एक रूप है। प्रकाश कोई पृथक् द्रव्य नहीं, जिसमें कि गुरुत्व हो। प्रकाश पड़नेसे भी कोई वस्तु उतनी ही भारी रहेगी जितनी कि अंधकारमें थी। प्रकाशके संबंधमें इधर वैज्ञानिकोंका एक और अभिमत है कि प्रकाश एक प्रकारकी तरंगवत् गति है, जो कि किसी ज्योतिष्मान्—पदार्थसे इथर और आकाश-द्रव्यमें उत्पन्न होती है और चारों तरफ बढ़ती

---

१ 'शुद्ध' शब्दका एक दूसरा अर्थ भी माना जाता है यथा—
''मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः ।'

है। जलमें यदि पत्थर फेंका जाय तो जहाँ पत्थर गिरेगा वहाँ जलमें एक प्रकारका क्षोभ उत्पन्न होगा जिससे तरंगें उठकर चारों ओर बढ़ने लगती हैं। ठीक इसी प्रकार ज्योतिष्मान्-पदार्थद्वारा 'ईथर' और आकाश-द्रव्यमें जो क्षोभ उत्पन्न होता है वह प्रकाशकी तरंगोंके रूपमें चलता है। अतः यह आकाश-द्रव्य विभु या सर्वव्यापक पदार्थ है जो कि प्रकाशके वाहकका यथार्थ कार्य करता है। प्रकाश-तरंगोंकी कल्पनातीत है। वे एक सेकिण्डमें हजारों मील या कोसके हिसाब चलती हैं। प्रकाशकी उक्त तरंगें या किरणें जो निकलती हैं, यद्यपि वे सब एक ही गतिसे गमन करती हैं, पर तरंगोंकी लंबाई-के कारण उनमें भेद समुपस्थित हो जाता है, जिससे उनकी लंबाई भी भिन्न भिन्न हो जाती है। इससे किसी एक प्रकारकी तरंगोंसे बनी हुई किरणें अन्य प्रकारसे बनी हुई किरणोंसे भिन्न हो जाती हैं। यह भेद ही रंगोंके विविध भेदोंका कारण है। जैसे—किसी तरंगकी लम्बाई' ००००१६ इंच है, तो वह बैंगनी रंग देगी—प्रकट करेगी। और जिसकी लम्बाई' ००००१४ इंच होगी वह लाल रंग देगी, अर्थात् प्रकट करेगी। इसी तरह अनेक भेद हैं, पर उनमेंसे कुछ ही हमारी अनुभूतियोंको प्राप्त हैं, बाकी नहीं। पहिले न्यूटन' आदि पुराने तत्त्ववेत्ताओंने प्रकाशको अणुमय वस्तु माना था, पर पीछे यह अखंड—वस्तुकी तरंगोंके रूपमें माना जाने लगा। इधर फिर थोड़े दिनोंसे अणुमय माननेकी वही पुरानी प्रवृत्ति वैज्ञानिकोंमें दिखायी पड़ने लगी है।

प्रकाशके अन्य अर्थ भी होते हैं जैसे— विकाश, स्फुटन, विस्तार, अभिव्यक्ति, प्रकटन, प्रकट होना, जाहिर होना, देखनेमें

कहते हैं, जहाँ बहुत रेत जमा हो गया हो । भूख, मही, रेगिस्तान भी यह ही कहलाता है । और मही समतल भूमिको कहते हैं । जैसे—

गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वीक्ष्माऽवनिर्मेदिनी मही

—अमरकोश

इसी प्रकार ज्योति (जोति) और प्रकाश (परकास) में भी यही बात है । यहाँ ज्योति और प्रकाशका अर्थमें संबंध होनेके कारण इस पद्यांश—'जोति-मत-परकास' का अर्थ अर्थकी ज्योतिका प्रकाश होगा । यानी समानार्थी होते हुए भी भिन्न अर्थ होगा, क्योंकि प्रकाश तेजको कहते हैं, जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है और ज्योतिको 'भी' आदि यथा—

अग्नौ दिवाकरे च ज्योतिः ।"

गोपी-वचन

(८)

मारग—शुद्ध मार्ग, अर्थात् पंथ, रास्ता, राह । सूधा—शुद्ध सीधा, सरल, जो टेढ़ा न हो, कपट रहित, जो ठीक साधारण स्थिति-में हो, जिसमें कपटा न हो । नैन—नयन शब्दका भाषामय रूप और मनोहर रूप, लोचन, नेत्र, आँख, चक्षु ।

"लोचनं 'नयनं" नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी ।"

—अमरकोश २ । ६ । ४४

आँख, देखनेकी वह इंद्रिय जिससे स्थावर और जंगमोंके रूप, आकार, वर्ण और विस्तारका यथार्थ ज्ञान होता हो । मनुष्य-शरीरमें यही एक ऐसी इंद्रिय है जिसपर आलोकके द्वारा पदार्थोंका बिम्ब पड़ता जाता है, आदि-आदि ।

नैन (नयन)—शब्दकी एक सुन्दर व्युत्पत्ति करते हुए रसनिधिजीने बड़ा गजब ढाया है,—देखिये न जैसे—

"बपु जगति बेधति मनहिं "रसनिधि"—कर बिनु नौम ।
नैननि सों ने नाहिं में या तें 'नैना' नाम ॥"
"तीखी छवि सुन नीच की करौ कहाँ लौं रीति ।
मनहिं सों ने नाहिं तो करें "नैन" का नीति ॥"

अथवा—

"जो बपु उपजत आइ उर सो वे "आँखें" देति[1] ।
'रसनिधि' आँखें नाँम इन पायौ अरथ समेति ॥"

और चख (आँख)—

"और रसन के जाव ही रसना है अभिराम ।
चाखत जे इक रूप-रस तातें है 'चख' नाम ॥"

श्रुति—शुभ श्रुति, अर्थात् कान, श्रवण, अथवा शरीरकी वह इन्द्रिय जिससे सुना जाता है ।

'कर्णशब्दग्रहौ श्रोत्रं 'श्रुति' स्त्री श्रवणं श्रवः ।
(अमरकोष २ । ६ । ९५)

श्रुति—शब्दको श्लेषमें पागकर—सजाकर कविवर बिहारी-लालजीने बड़ी ऊँची उड़ान उड़ी है, यथा—

"अजौं तरौनाही रह्यौ "श्रुति" सेवत इक अंग ।
नाक-बास बेसर लह्यौ बसि मुकुतन के संग ॥"

नासिका—घ्राणेन्द्रिय, अर्थात् जिससे सूँघा जाय, या सुगन्ध-दुर्गंध मालूम हो वह इंद्रिय, नाक, नासा । यथा—

'क्लीबे घ्राणं गन्धवहा घोणा नासा च "नासिका ।"

---

१ यहाँ "आँखें" शब्द—काढ़ने या अंकित कर देनेके अर्थमें प्रयुक्त है।

मुरली—वंशी, बाँसुरी, अर्थात् बाँसकी कोमल नलीसे बननेवाला वह बाजा जो कि फूँकसे बजता है। इसीको "वेणु" भी कहते हैं—

मुरली वाद्य-विशेषका विश्लेषण करते हुए संगीत-रत्नाकरके कर्ता कहते हैं—

"हस्तद्वयायिता माने मुखरन्ध्रसमन्विता।
चतुःस्वरच्छिद्रयुक्ता मुरली चारुनादिनी॥"

—संगीतरत्नाकर ६। ७८४

और "वेणु" जैसे—

वैणवः खादिरो दांतमायनो रक्तचंदनः।
आयसः कांस्यजो रौप्यो वंशः स्यात्कांचनोऽथवा॥
वर्तुलः सरलः श्लक्ष्णो ग्रंथिभेदव्रणोज्झितः।
कनिष्ठांगुलिविस्तारं गर्भे च सुषिरं दधत्॥
स्वैरर्धमानमध्यैर्वा समाकृति समन्ततः।
तस्य द्वे त्रीणि चत्वारि चांगुलानि शिरःस्थलात्॥
त्यक्त्वा फूत्कारसुषिरं कार्यमंगुलसंमितम्।
मुखरंध्रादवरे तत्र भवेदेकांगुलान्तरम्॥
अर्धांगुलांतराणि स्युः रंध्राण्यन्यानि सप्त च।
तान्यष्टौ बदरीबीजसमानानि प्रचक्षते॥

—संगीतरत्नाकर वाद्याध्याय, ६

इस छोटी-सी 'मुरली' की मधुरतापर रीझकर व्रजभाषाके कवि-कुलोंने बड़ी ऊँची और अनूठी उड़ानें उड़ी हैं—जमीन और आसमानके कुलाबे मिलाये हैं, जैसे—

"अधरामृतसारपरमहंसकुलस्य मित्रम्
मित्रमुधामधुरिमानमभीरधर्मा ।

कन्दर्पश्वाससमधुरं मुहुरेव वासन्
वंशीध्वनिर्जयति कंसनिसूदनस्य ॥"
—भक्तिरसामृतसिंधु

रुन्धन्नम्बुभृतश्चमत्कृतिपरं कुर्वन्मुहुस्तुम्बरुं
ध्यानादन्तरयन् सनन्दनमुखान् विस्मापयन् वेधसम् ।
औत्सुक्यावलिभिर्बलिं चटुलयन् भोगीन्द्रमाघूर्णयन्
भिन्दन्नण्डकटाहभित्तिमभितो बभ्राम वंशीध्वनिः ॥"
—श्रीरूपगोस्वामी

मुरली हरि तें न छूटति है।
यही के बस भए गिरधर की अधरन-रस लूटति है॥
हम तें निठुर भई वह बोलति तन तें मन उचटावति है।
आरज-पथ कुल-कानि मिटावति सब कौं निलज करावति है॥
निदरी रहति करति नहिं काहू सुख पायें वह फूलति है।
जब ते हरि तें होति न न्यारी तू काहे कों भूलति है॥
रोम-रोम-मन-सिख-नख-पागी अनुरागिनि हरि प्यारी।
"सूर" स्याम वाके रस-भुरये ऐसी सौति हमारी॥

मुरली कौन तप तें सिधी।
रहति गिरधर-मुखहिं लागी अधरनि धरे रस पिवै॥
सुंदर-स्याम-कमल-दल-लोचन मोहि जग-जन दिये।
"सूर" सिरी गोपाल बस भए, जगत में जस लियौ॥

मुरली हरि कौं नाँच नचावति।
ऐसे है यह बाँस-बँसुरिया नंद-नँदन कौं भावति॥
ऐसे रहति सुभग ताके ह्वै, सकुचि न बोलति बात।
सो निदरत आज्ञा करावति नेकुँ नाहिं सकात॥
जब जानति आधीन भए ए, देखति ग्रीव-नवावति।
पौढ़ति अधर चलत कर-पल्लव-रंध्र-चरन पलुटावति॥

हम पै रिस करि करि अवलोकति नासा-पुट फरकावति।
'सूर' स्याम जब-जब रीझति हैं तब-तब सीस डुलावति॥"

—सूरसागर

"बंसी हम सौं बैर कियौ।
पिय कौ अधर-सुधा-रस बन मैं बिपरछ जाइ पियौ॥
या बैरन कौ बुरौ जायौ जन ऐसी पति हियौ।
'नागरिया' ब्रज-सुन्दरिन कौ तें सरबसु छीन लियौ॥

—नागर-समुच्चय

"किधौं है मनोज की सजीव करति कैद
आनि नहिं देति कहूँ सबके पतंग कौं।
किधौं है रजत सुकावै हार-पारथ तें
हारन तें काढ़ै मधु औरि सब अंग कौं॥
किधौं नेह-नाद छोड़ै गुंज छन छ्य छोरि
पू री और पारै सरस-रस-रंग कौं।
किधौं यह मोहन की बाँसुरी बिमोहन है
मोहन लगति ज्यौं मोहन अनंग कौं॥"

—कोई कवि

"बाँसी बड़-बंस तें अधर-अधरेस लगी
भरी है अमारस मैं है हिय की अति प्यारी री।
हरै मन-धन कौं करै है माधुरी सौं घात
उठै रसपात जाके मुख तें सुधारी री॥
सिर्धन कौं किये, हिये बींधि लै भरी अधीर
बोलै मुँहजोर बरजोर पै कुचाली री।
कानी के दैमन कहूँ कैसें प्रतिपाली जातें
कहैं चतमाली जग मैं प्रबीन आली री!॥"

—शृंगारसंग्रह

भ्रमर-गीत

"सखी सीत-भीत बरसातप की उतपात
  रात-दिन यातें मधु-सीत तप की किया।
जनम तें याही प्रीति एक पग ठाढ़ी रही
  ठाढ़ी भई याही नहिं नैंकु कसक्यो हिया॥
तीजै नहिं रोक बाधे पीजै नहिं दोख बीर
  देह की सुखाइ धीर मेह-मद को किया।
परसि सुबासहि लाइ लीन्ही मनराइ यातें
  यातें यह बंसी लाइ भई स्याम की प्रिया॥"
—हृदय

"मोहु के सुबंस-बंसी ऐसें ही कछुक-दिन
  मारी-फिरी ऐसें ही कछुक-दिन नौकी री।
पेड़ करवाइ सिर छाती में छ-सात गई
  कारीगर-हाथन अनेक-विधि दसगी री॥
ताहि मन-मोहन लियो दिन तें राखि-सन-
  द्विज-देव' सोहि सुघर अनुरागी री।
हीर है के क्यों न मन-भावन लगावै सोई
  बाँसुरी सुन्यो री अब हरि-मुख लागी री॥"
—द्विजदेव-मयोध्या

"ऐसे सुर कीने कर, ऐसे-हेतु कीने कोप—
  ऐसे राग ऐसे ताग रोम-रोम छीजिये।
बाँसन के छीदे सैंकु बाँसन बजाइ देति
  और-और अंगनु सुधीर सदु कीजिये॥
अंतर की पूँजी चार-सुर की 'सेवा' कहें—
  सुनि-सुनि सपन बसेरी धन लीजिये।
हम अब बसिहैं तो बाँसुरी न बसिहै अब
  बाँसुरी बजाइ बोल हमें सिखा दीजिये॥"
—सेवक भासमकवि

"बाँसुरी बिसारी गाँ ठौ मन ना बसैगो अब
बिधि-बाँधि बाँसुरी के बस करि दई है।
"आलम" कहौ हो ज्याइ नैन ऐसे नैन सबै
कीनि सुनि बाँसु ऐसे ठेई ठग ठई है॥
चित-चलचेरे तुम चाते मुसिकात हो जू,
रीझि-मुरझाइ के मुकेली गिरि गई है।
बूँझै कामनी गाँसी सी बसाँसनि की आसु नाहीं
राखरे की हाँसी है निगाँसी बौरे गई है॥"

—आलम कवि

पंगुन की पग होत बौबन की आसा-भग
एही जानि है कें जन-बीरति बजाई है।
बिरचें बिलोंग वैजयंती चारि नहीं चाहीं—
चास-सी बिलासी बिस्व-बिदित बढ़ाई है॥
छाया करे जग की महाया करे ऊँची-नीचे—
माया तेहि बस में की बरत सराहिं है।
बाँस-मुख-स्वामि करे करम बसाईन की—
ताही बंस बाँसुरी" बनम-धारी आई है॥

—राम

"चौर बिन बेठे ठेले बाँग के हरैया हीय
बंसी के करे की कम् जाइ जा कहर है।
सुनहि [illegible] रोम-रोम रीझ जाइ पूरी रैया
ओम बारि बारे, पारे बेकसी गहर है॥
"ग्वाल कवि" लखत लीसी ओरि-कर देखदि हो—
बाँसु करि रीझे को पे मो पे असर है।
बाँस में कि बनों कि होठ में कि हूँक में
कि बाँसुरी की रागनी कि धुन में जहर है॥

देख्यौ-देख्यौ सब ही चातुर तेरी चतुराई !
कही है न रैन 'बंसी' मन की रहन है।
तारन की पुंज चमक्यौ चंद्र मति-मंद चमक्यौ—
सिसुमार-चक्र चमक्यौ अमरा-बहन है ॥
'ग्वाल कवि' सब अरविंदन कौ मूंदन है
संकुल-सलिलन कौ मधुरा बहन है।
होन है रे होन दै सबेरी बिरहाई-अँखि
रहैं क्यों अबला रे गोपिन दुखन है ॥*

—ग्वाल

'मत्त-कोकिल-कोरैन के रसिया—
घन-घूमिन-सेन बिछावति है।
मति-सुंदर कोमल "गीत" सबौं—
मनिमनवलि-बीन बुलावति है ॥
अँगुरीन तें बाँचत पौढ़ कैं—
द हक मन-मोद न आवति है।
छुवे मुख सों मतवारी भरी
बँसुरी छोड़ि नींद न आवत है ॥

—नवनीत

बैठे संग छमकि अनंग-भरि रंग-रैसे—
अंग-अंग बाँसुरी-तरंग-छबि छावै है।
कहै 'रत्नाकर' कछुक रंग-ढंग औरै—
एकएक मत्त है सुरंग बरसावै है ॥
रंध्र-रोरि स्यामी-कोरि सुधा-सिचया तें मोरि
जैसें कंज-पांत पै मलिंद-बृंद धावै है।

* ग्वाल कविने 'बंसी-बीसा' नामसे एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ रचा है जो कि तोलमें तो नहीं पर मोलमें अवश्य भारी है।

करनेवाला प्रयोग, सुधि-बुधि भुलानेवाली शक्ति, मोहिनी-माया, जादू, टोना ।

मारग, सूधौ, मैंन, बैंन, सुति, नासिका, मुरली और ठगोरी—आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग ।

"मन 'मारग' हम चित गहे हो कबहुँ न छाँड़ो गैल ।
—रसिकराय

"कहिबो 'सूधौ'* हरी—सँदेसवा ।" —माधुरीदास

"'मैंन'-छबि कबी आजु कछु औरें ।"
—ललित-किशोरी-प्राचीन

"अधर धरें रंगभीने बोलति अटपटे-बैंन ।
कर-पल्लव हूँ नें मदन पै सरकि नचावति नैंन ॥"
—माधौदास

"सुति -कुण्डल अति-झलकावें—सोभा कही न जाइ ।
—कुम्भनदास

"'नासिका'-गिरिधर सोहति मोती"
—गोविंदस्वामी

"सुनि धुनि 'मुरली' बाजै हरि रास-रच्यौ ।
कुंज-कुंज-बेली प्रफुलित, मंडल-कंचन-खचित सच्यौ ॥"
—हरिदासस्वामी

---

* ब्रज भाषामें इस शब्दके दो प्रकारसे प्रयोग और मिलते हैं ।

''सूधे'' सखनन मोंगिये हो, मारग गारत-गैल ।
—रसिकराय

'सूधैं' दीन हेतु जिनि सो पै और कहा कछु चाँह परोंगी ॥
—नंददास

"मुसकि-ठगोरी" डारि कै प्यारे सकति कहूँ रति-चोरि।"

—रसिकराय।

श्रीनंददासजीकी तरह "श्रीसूर" ने भी उद्धवके उस अद्वैत-वादका कुछ ऐसा ही सुन्दर जवाब दिया है, जैसे—

ऊधौ और कछुक कहिबे कौं।
मन-मानें सोइ कहि डारौ, पाँ-लागौं हम सब सहिबे कौं॥
यै उपदेस आजु लौं ऐसो कानन सुन्यौं न देख्यौ।
निरगुन परे बदन अति-सीतल चौंकति मदि उर लेख्यौ॥
निसि-दिन बसत नैंन अरु निरखति हरि-मुखारविंद-सैन।
ता कौं कहाँ ठौर है जाहीं पै राख्यौ जाइ नैंन॥
ब्रजवासी गोपाल-उपासी सो क्यौं हम छाँड़ैं।
'सूर' जोग-बल राज मधुपुरी, कुबिजा के घर जाहिं॥"

अथवा—

काहे कौं रोकत मारग-सूधौ।
सुनौ मधुप! निरगुन कंटक तैं, राजपंथ क्यौं रूँधौ॥
कै तुम सिखै पठाए कुबिजा कहौ स्यामघन हूँ धौं।
बेद-पुरान सुमृति सब ढूँढ़ौ जुवतिन जोग कहूँ धौं॥
ता को कहा परेखौ कीजै जानत छाछ न दूधौ।
'सूर' मूर अक्रूर गयौ लै, ब्याज निबेरत ऊधौ॥"

---

१ अद्वैतवादियोंका यह सिद्धान्त है कि ब्रह्म सर्वत्रित्य है और वे कुछ है वह सब मिथ्या है—भ्रम मात्र है। [illegible] है कि [illegible] इसीके मायावश न [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] इसके गुणसमूहो न [illegible] [illegible] और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] जान पड़ती है। [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]।

सत्त्व, रज और तम—आदि। अच्युत—शुद्ध अच्युत—जो कभी च्युत न हो, अर्थात् जिसका कभी नाश न हो, स्थिर, अमर, सदा सर्वदा रहनेवाला, अविनाशी, (जिसका कभी नाश न हो)।

'स्वरूपसामर्थ्येन न च्युतो न च्यवते न—च्यविष्यते—इति 'अच्युत' ।' —विष्णुसहस्रनाम, शाङ्करभाष्य

अर्थात्—अपनी स्वरूप-शक्तिसे कभी च्युत नहीं हुए, न होते हैं और न होंगे—इसलिये—'अच्युत'।

'शाश्वत १ शिवमच्युतम्।' —ना० उ० ११।१

भगवान् भी यही कहते हैं —

'यस्मात्र च्युतपूर्वोऽहमच्युतस्तेन कर्मणा।

बिस—शुद्ध विश्व, सारा संसार, सम्पूर्ण जगत्, चौदह भुवनोंका समूह, सब, जैसे —

'विश्वं अशेषं कृत्स्नसमस्तनिखिलाऽखिलानि निःशेषम्।'
—अमरकोश ३।२।१४

सगुन, उपाधि, निरगुन, निराकार, निरलेप, अच्युत और बिसके सरस प्रयोग—

"गोबिंद" प्रभु गिरिधर अनुमति के "सगुन" रूप है व्यापक।
—गोविन्ददास

"और कछु उपजी नहिं उपाधि"।" —कृष्णदास
कथौ है "निरगुन" ब्रत राखौ।" —सूरदास

---

१ चौदह भुवन—"भूः, भुवः स्वः महः, जनः तपः, सत्य, अतल सुतल, वितल, गभस्तिमत् महातल रसातल और पाताल।

निरंजन निराकार" परब्रह्म परमेस्वर— —वेनू बावरा
एकही अनेक होइ ब्यापी बिस्वंभर ।
निराकार निरलेप" निरंजन नौतमुख" निकार्य ।" —आनंदघन

घट-घट में व्यापि रह्यौ "अच्युत" सोई—
मूले मति मतिमंद दूजौ जनम आइगौ ?" —धनजैन
बिसा" कुसल करन बिधिना बिनती करि जाने ।" —नंददास

श्रीनंददासजी उक्त उक्तिपर यह श्रुति-वाक्य कितना ठीक बैठता है। जैसे —

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणि
"पादम् ।" —मुण्डकोपनिषद् १ । १ । ६

अथवा श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं —

सत्त्व रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥
—श्रीमद्भागवत १ । ४६ । ४

श्रीसूर कहते हैं —

हे हरि, सकल-सरीर के बासी ।
पूरन ब्रह्म अखंडित मंडित पंडित मुनिन बिलासी ॥
सप्त-पताल ऊर्ध अध पृथवी तल नभ बरुन बयारी ।
अभ्यंतर-दृष्टी देहनि कौं कारन-रूप-मुरारी ॥
मन बुधि अहंकार गुन-ईसी प्रेरक एव-समधारी ।
ताके काज बियोग बिचारति ए अबला ब्रज-नारी ॥
जाकौं जैसी रूप रुचै मन सो अपबस-करि लीजै ।
आसन बसन ध्यान धारौं मन आरोहन कीजै ॥

षट-दल, अष्ट, द्वादस-दल निरमल अजपाजाप जपाली।
त्रिकुटी-संगम ब्रह्म-द्वार-भिदि यौं मिलिहैं बनमाली॥
एकादस गीता श्रुति साखी जिहि बिधि मुनि समुझाए।
ते संदेस श्रीमुख गोपिन कों "सूर" सुमधुप सुनाए॥

कबीर साहब फर्माते हैं —

"जाके मुँह-माथा नहीं नाहीं रूप-कुरूप।
पुहुप-बास तें पातरा ऐसा तत्त्व अनूप॥ —साखी

यारी-साहिब कहते हैं —

"जोति-सरूपी आतमा घट-घट रही समाइ।
परम-तत्त मन-भावनो, नेकु न इत उत जाइ॥
"रूप-रेख बरनौं कहा कोटि-सूर्य परगास।
अगम-अगोचर रूप है कोउ पावै हरि को दास॥"
झिलमिल-आगे देखिये, तेज-पुंज जगदीस।
बाहर भीतर रमि रहा सो धरि राखो सीस॥"

सहजोबाई कहती हैं—

"निराकार-आकार सब निरगुन औ गुनवंत।
है नाहीं सूँ रहित है 'सहजो' यों भगवंत॥"
नाम नहीं औ नाम सब रूप नहीं सब रूप।
'सहजो' सब कछु ब्रह्म है हरि परगट, हरिगूप॥"

गोपी-वचन

(१०)

गो—गौ, धेनु, गैया, गाय, पशु।

गो-शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—किरण, दिशा, वचन, पृथ्वी, मारुत, वृष-राशि, इन्द्रिय, सरस्वती, वागीश, आँख आदि।

मन—मोगल । अंजन—काजल, सुरमा-वगैरह ।

कवि-संसारमें अंजन-अलंकृत आँखोंका भी बड़ा बोलबाला है। इस तीन अक्षरके "अंजन" शब्दपर कवि-कोविदोंने अपने-अपने कलेजे निकाल-निकालकर रख दिये हैं। कहते हैं—काजल, दृष्टिको साफ करता है, पर यहाँ तो इस कमबख्त "काजल" ने कवि-दृष्टिको और भी काला बना दिया है—एकदम धुँधला कर दिया है देखिये न, जैसे—

"अंजन के दिये कारे अंजन लसत किधौं—
बाँधे जुग मीन जाल-फाँस लौं सहेत हैं ।
काम के कमान में कुसुम की कटाक्ष किधौं—
[illegible] सिंगार के सदन हैं ॥
विविध मुनिन्द्र मन मोहैं हैं [illegible] सों
"[illegible]" सुमिरन-हू ये मन के हरन हैं ।
काजर की रेख अनोखी लोचन में मानौं—
[illegible] चित-चोरन के मेचक वरन हैं ॥"

× × ×

"नैन-मोहिनी मूरत राधिका की—[illegible] सोहत के नैन प्रेम पग्यो ।
चहुँ ओर तें घेरी है चंद्रिका-सी [illegible] छवि [illegible]-केसर रंग्यो ॥
[illegible] अंजन-लीक में काजर-रेख [illegible] [illegible] [illegible] पग्यो ।
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-सों [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]-रंग्यो ॥"

× × ×

"खन-खोरी [illegible] कै, सोहत [illegible] चित-चोर ।
अंजन-मिस [illegible] नैन ए, पीवत [illegible]-घोर ॥"

गोवरधन—गोवर्धन, गोधन अर्थात् व्रजका पर्वत विशेष।

यों तो 'गोवर्धन' का विस्तार गोलोकमें बारह-हजार कोसका कहा जाता है और गोलोक-विहारी भगवानके आनंदसे उक्त गोवर्धन की उत्पत्ति कही जाती है, पर गर्ग संहिताके कर्त्ता गोवर्धनकी उत्पत्ति व्रजमें इस प्रकार कहते हैं—

"एक समय श्रीपुलस्त्य ऋषि पृथ्वी-पर्यटन करते हुए अतुल-प्रतापशाली शाल्मली-द्वीपमें द्रोणाचलके यहाँ आये और वहाँ ऋषिने सुंदर रत्नमयी शिखरोंसे सुशोभित, सुगंधसे संयुक्त, वृक्षोंसे परिपूर्ण और दिव्य-पुष्पोंसे प्रफुल्लित, कंदराओंसे कलित, ऋषि-मुनियोंके उपयुक्त अनेक स्थान तथा पशु-पक्षियोंसे भरपूर उसके पुत्र 'गोवर्धन' को देखकर उसे काशी ले जानेके लिये याचना की। ऋषिके अनुनय-विनयसे गोवर्धनने मार्गमें कहीं भी न रखनेकी प्रतिज्ञापर ऋषिके साथ जाना कबूल किया, क्योंकि उस (गोवर्धन) का कहना था कि जहाँ भी आप रख देंगे वहाँसे पुन मैं आगाड़ी न जाऊँगा, वहीं रह जाऊँगा। अस्तु, इस शर्तनामेके अनुसार ऋषि गोवर्धनको व्रजके रास्ते काशी ले जाने लगे तो भगवत्कृपासे ऋषिको इस स्थानपर जहाँ कि अब गोवर्धन-पर्वत वर्तमान है—लघुशंकाकी आवश्यकता प्रतीत हुई और गोवर्धनको वहाँ रख अपनी शंका निवृत्त करने लगे, तदुपरान्त जब आप पुन काशी चलनेको उद्यत हुए और गोवर्धनको उठाने लगे तो "गोवर्धन" कहने लगा कि महाराज! अब क्षमा कीजिये, बस मेरा और आपका करार पूरा हो गया, मैं अब आगाड़ी नहीं जा सकता आदि-आदि। अतएव श्री-

पुलस्त्य ऋषि अपनी आगे मनोकामना पूरी पड़ती न देख झुंझलाकर बोले कि—'आ दुष्ट! तू तिल-तिल नित्य-प्रति यहाँ घटता रहेगा और कलियुगमें तेरा इस तरह नाश हो जायगा, इत्यादि'।'

—गर्गसंहिता 'गिरिगोवर्धनखण्ड'

गोवर्धन-धारणकी कमनीय-कथा श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार लिखी है—व्रजवासी गोप-गण प्रतिवर्ष अच्छी वर्षा होनेके लिये शरद्‌कालमें इन्द्रकी पूजा किया करते थे। उन लोगोंका यह विश्वास था कि उक्त पूजा करनेसे हम सब तरहसे सुखी होंगे, जैसे—

नंद-महर सौं कहति जसोदा सुर-पति-पूजा क्यों बिसराई।
जाकी कृपा बसत ब्रज-भीतर जाकी दई बड़ाई॥
जाकी कृपा अन्न-धन पूरन जाकी कृपा तें नव-निधि पाई।
जाकी कृपा दूध-दधि बहुतक सहस-गैयनकी मैया सदाई॥
जाकी कृपा पुत्र भयो मेरें कुसल रहौ बलराम-कन्हाई।
'सूर' कहति सो कहति नंद सौं दिन आयौ अब करौ समाई॥

अस्तु, यशोदाके इस प्रकार याद दिलानेपर बड़े उत्सवके साथ इन्द्रपूजाका आयोजन होने लगा। उसी समय कहींसे खेलते-कूदते कृष्ण आ गये और लगे पूछने कि बाबा! यह काम क्या हो रहा है! बाबा नंदके सब कहनेपर आपने इन्द्र-पूजाके लिये मना करते हुए गोवर्धन-पूजाकी सलाह दी, यथा—

'बाबा गोबरधन पूजौ आज।
जातें गाय गुवाल गोपीजन सुखी सकल कौ राज॥
भाखौं दधि-दधि बलिविधि पकवान बहुत साज सौं काज।
'गिरि' के बल बैठे हम सबके कोटि-कूट है गाज॥

मेरौ कह्यौ मानि अब कीजै भरि-भरि सकटनि नाज।
'परमानंद' चलौ सब जइऐ पूजा करन गिरिराज॥

बाबाके सखाओंमें तो थे ही, फिर इनकी बात क्यों न मानी जाती, अस्तु, नन्द बाबा सब गोपोंसे कहने लगे—

"हमारौ कान्ह कहै सो कीजै।
आवौ सिमटि सकल ब्रज-बासी परवत कौ बलि दीजै॥
मधु मेवा पकवान मिठाई पय-रस-मिश्रित कीजै।
'आसकरन' प्रभु मोहन नागर, ताहि पखारि पीजै॥"

अतएव इस आज्ञाके अनुसार गोपगणोंने इन्द्र-पूजनको मिटाकर गोवर्धन पूजा की, जैसे —

"गोवर्धन पूजत हैं ब्रजराई।
नन्द-नंदन आगे ह्वै कीने गोप-बधू सँग आई॥
दूध-दही भाजन भरि लीन्हें पाहुन बहुत बनाई।
धरे हैं नौपक सिखर पै भोजन करत मिठाई॥
दीपमालिका-महा-महोत्सव, आनँदित अमर बुलाई।
विविध-भाँति संग सखा सजाए जो जाके मन-भाई॥
फूले फिरत सकल ब्रज-बासी निरख दिवाली गाई।
'कृष्णदास' के प्रभु गिरि पूज्यौ भई मनोरथ मन-भाई॥"

इन्द्र, इन (गोपों) के इस नये व्यवहारको देखकर बड़ा क्रुद्ध हुआ और अपने मेघ-गणोंको बुलाकर व्रजको डुबा देनेकी आज्ञा दी।

मेघनि सों बोले सुर-राइ। अहीरनि मोकौं करी ढिठाई॥
मेरी पूजा करत बराई। जौन भूमि माहिं दियौ भुराई॥
सदा करत मेरी सिवकाई। अब सेवत परवत कौ जाई॥
इही काज तुमकौं हँकराए। अबही करौ सेव के आए॥
बेगि-बेगि सब ब्रज पै धावौ। बहिकैं परवत खोद-बहावौ॥

जब इहि सुनी इंद्रकी बानी । मेघन के मन धीरज आनी ॥
"सूरदास' प्रभु सुमिरि मन कमके । ब्रजपर क्रोध करत प्रभु कमके ॥"

सुर-पतिके इस आदेशानुसार मेघ ब्रजपर आकर भीषण-उत्पात करने लगे । इसे न सह सकनेवाले उत्पातोंसे डरकर गोपवर्ग असहाय-सा रोता-कलपता कृष्णसे सहायताकी पुकार मचाने लगा—

"राखो हो, राखो अपनी ओट ।
ये देखो गोवरधन-ऊपर, उठे हैं मेघ के कोट ॥
तुम हू सबकी पूजा मेटी और कियो सब मोट ।
नाहिन आन सहायक आन्यों भयो है जारे तें खोट ॥
सत-चौस लग बरस सिरानों अबको पकरहि खोट ।
क्यों कसहु गिरि गरुवो कर पै छीन्हो मिस निखोट ॥
गिरिधारयो, बिरलायक-आरती लियो नंद के ओट ।
"परमानंद" प्रभु हम किसानों सुमन चरन-तर ओट ॥"

उसी समय इस पदानुसार भगवान् श्रीकृष्णने गोप और गोकुल-की रक्षाके निमित्त गोवर्धन-गिरिको अपने बाँये हाथकी कनी—सबसे छोटी उँगलीपर उठा लिया और सबको इसके नीचे बुलाकर आश्रय दिया । जैसे कोई बालक कमलनालको अपनी उँगलीपर नचाता है उस तरह सात दिनतक आप गोवर्धन पर्वतको लिये रहे अपनी उस नाजुक और कोमल कनी उँगलीपर । श्रीनन्ददासजीने उक्त अवसरका एक बड़ा सुंदर भावपूर्ण पद कहा है, जैसे—

"गोविंद-कुँवर के कर-पल्लव पै मानों गोवरधन नृत्य करै ।
ज्यों-ज्यों तान उठति मुरली की त्यों-त्यों लालन अधर धरै ॥
मेघ-मृदंगी मृदंग बजावत दामिनि-दमक मानों दीप जरै ।
ग्वाल ताल दै नीके गावत गायन के सँग सुर जो भरै ॥

देहि असीस सकल गोपी-जन "बरखा को जल अमित हरौ।
अति अद्भुत भवस गिरिधर प्रभु, 'सूरदास' के दुःख हरौ॥"

मेघोंने सात-दिन और सात रात्रि महान् वृष्टि की, पर गोकुल-निवासियोंका वे कुछ भी न बिगाड़ सके और थककर भाग गये। तदुपरान्त इन्द्र भी भगवान् श्रीकृष्णको पूर्णावतार मान गोकुलमें आया और पूजा-अर्चनाके पश्चात् स्तुतिकर अपने लोकको चला गया तथा इधर गोप-तथा गोप-बालाएँ उनके इस अपरिमित कृत्यपर आशीषें देने लगा। जैसे —

"जीवौ जसोधा पूत बिहारी जिन गोबरधन धारयौ।
बाँस-पाँति ले राखि लयौ गिरि सुरपति गर्व उतारयौ॥
सात दिवस अति-वृष्टि कराई प्रबल मेघ पचि हारयौ।
बूँद न परसी काहू देखत सुर-पति-मद अपहरयौ॥
लै सुरभी अभिषेक कियौ है तब सब उर सब धारयौ।
"ब्रजपति" की अति बात चीतती पौढ़ परयौ-बस हारयौ॥

पूत—बेटा, लड़का, पुत्र, अपत्य अथवा पूत—पवित्र या साफको भी कहते हैं, जैसे —

"पूत पवित्र मेध्यं च ।"

—अमरकोश ३।१।५

ब्रजनाथ—ब्रजके नाथ, मालिक, प्रभु, स्वामी, कर्त्ता, प्रतिपालक—आदि।

गो, ब्रज, अंजन, गोवरधन, पूत और ब्रजनाथके सुन्दर व सरस प्रयोग।

"आली—"गो" नायक गिरधारी बीनी ब्रिजन पुकार।"

—बिहारीलाल

"मूंदि परी संकेत-सदन 'मन' ह्वौं आकुल चित चाहै।"

—शिव भगवान

'मदन' ऊपर कंचन वारौं बैन-मधुकर मीन।"

—हरिदास दूसरे

"गोवर्धन" की सघन-कन्दरा रैनि-निवास कियो पिय-प्यारी।

—कृष्णदास

"नन्द बधो महरि के "सुत" जब वे बात सुनी।" —सूर

'कल्याण' मधुनिव गिरि सूनो आयें करि 'परमानन्द'।"

—परमानन्द

श्रीसूरने भी नंददासजीकी तरह उद्धवके निर्गुण ब्रह्मकी खिल्ली उड़ायी है, 'हाथ, पाँव नहिं नासिका, नैन, बैन नहिं कान' रूप वर्णनका भरपूर-मजाक उड़ाया है, यथा—

"मधुकर यह जानी तुम साँची।
पूरन-ब्रह्म तिहारो ठाकुर आगे माया नाँची॥
हुते गोंई न समुझति ओरहु, कैसी निरगुन होय।
गोकुल कोउ पै नँद-नंदन उहै तिहारो पोष॥
जो जसुमति ऊखल सों बाँध्यो जो दधि-माखन चोर्‌यो।
जो ए गोप-बधू हमारे, अमरकहुँन की तोर्‌यो॥
को है बसन चढ़ायो तरु-साखा मुरली-मधुर-बजाये।
को रस-रास-रच्यो वृन्दावन हरषि सुमन सुर बरसे॥
क्यों रास्यो तब कर बिन पूछे काहे सीस चिरावत।
तब तू 'सूर' प्रभु गए दूर है, अब क्यों नैन सिरावत॥

अथवा —

निरगुन, कौन देस को बासी।
मधुकर, कहि समुझाइ सौंह दै बूझति साँच न हाँसी॥

कौ है जनक ? कौन है जननी ? कौन नारि कौ दासी ।
कैसो बरन ? भेष है कैसो ? किहिं रस कौ अभिलाषी ॥
पावैगो पुनि कियौ आपुनौ जोरि करैगो गाँसी ।
सुनति मौन ह्वै रह्यौ बावरौ "सूर" सबै मति नासी ॥"

अथवा—

फिरि-फिरि कहा सिखावति बातैं ।
प्रातकाल उठि देखति ऊधौ घर-घर माखन खातैं ॥
जिनकी बात कहति हौ हम सौं सो है हम तैं दूरि ।
इहाँ न निकट जसोदा-नंदन प्रान-सजीवनि-मूरि ॥
बालक-संग लऐं दधि-चोरत खात खवावत डोलत ।
"सूर" सीस क्यों नीच्यौ नावत अब काहे नहिं बोलत ॥

अथवा—

मधुप कहि सगुन-सरस-गुन गाए ।
हम अनुरागी जसुमति-सुतकी नीरस-कथा कहाए ॥
कैसें कर-गोबर्धन धारयौ ? कैसे केसी मारयौ ।
फनि-दमन कियौ कैसे अरु बक कौ बदन बिदारयौ ॥
कैसें नंद महोच्छव कीन्हौं ? कैसें गोप सु आए ।
नट-भूषन मोर-पंखन के, ब्रज-बनितनि पहिराए ॥
दधि-माखन के भाजन कैसें गोप-सखा सँग खाए ।
को बन-धातु चित्र अँग कीन्हें मोहन भेष-सुहाए ॥
तब तें कछु न सुहाइ स्याम-बिन तृन सम सीतल भौन ।
"सूर" मरौंगी बिरह-पिपीलिकि रटि-रटि माधौ-मौन ॥

यही बात श्रीरामदासजी कहते हैं । जैसे—

कृपा सो मूरत हम देखी ।
सिव-सनकादि सकल-मुनि-सुरगन जाहि ढूँढ़ नहिं पेखी ॥

जोगत फिरत कुचे-पुग जोगी जोग-जुगत तें न्यारी।
सिद्धि-समाधि सपन नहिं परसी मोहन-मूरत प्यारी॥
नियम न जानें निमका तस गावें रहत सदाँ दरबारी।
तिल-भरि बार-बार नहिं पावौ कहि-कहि नेति पुकारी॥
ब्रह्म सती जोगी जो जानत ढूँढ़ रहे बन माँहीं।
सेष धरें धरती-भ्रमि हारे मिलहिं परसी नाँहीं॥
सो हम घर-घर गाँव-गलियो लखक-लखक लखि दै हैं।
रसखान हम रंगी-साँम-रँग काहू जोग पर है हैं॥"

एक कवि कहता है—

ब्रह्म को पता है हमारे-मन प्यारे-ऊधो!
जानें हम जसुधा के बार गुन गाँम कौ।
[illegible] उपाइ नहीं-जोबन चुराइ माख—
कवि मन कहत सुनी उरत मंद-स्याम कौ॥
सोहर [illegible] के ये मनोहर बनाइ हुत
काहीं गाँव गाँवनि छिप पूजें हरि राम कौ।
सगुन अनामी जब [illegible] निमि बार-बार
न्यारो हो कभार कहा ऐसो नव-साँम कौ॥"

—रसाल

निर्गुणसे सगुणकी स्थापना करते हुए भी "पसरूप" कुछ नयी उक्ति उपस्थित करते हैं, जैसे—

पाँव-बिन धावे करें कर-बिन आवै जाँन
"पसरूप" सुने-बिन गुन बहु गुनों है।
मुख बिना परसि परसि बिना नैन, बिन
रसनाँ रसना सुनें कान बिना सुनों है॥
नाक बिना सोधै बास बुद्धि बिना बोहै पाँस
दूरि सो पास सघारी आप ही अपनों है।

रूपन चोखो कैसें उर अनोखो आइ—
रूप है न रेखा कहूँ देखा नहिं सुन्यौ है ॥

—उपालम्भ-शतक

इस विषयपर—नंददासजी उक्त निर्गुण-निरूपणरूप अन्योक्तिपर जरा नवनीत कविकी सरस-सूक्तिका मनोहर मजा देखिये, यथा—

"जैसे कोउ कैसे ही उद्धव-सुजान आप,
है तो नेहमाँग पै आँजन निमारें कैसि ।
गहि-ओरि 'अंजन' पैठायो उन आँखिन में
तिन सों निरंजन कहि पूँछ निरखारें कैसि ॥
'नवनीत' भनि हाल ही तलफन में ताहन में
धराधन में लेह है निरमोह-निकारें कैसि ।
हाँ न परबेरी-जोग पैरी-संग परबेरी
जोग-परबेरी जेमि परबै हमारें कैसि ॥'
प्रेम अपने कर सौं दियो स्यों अंजन जोइ ।
दासी-सुत दासी कही भयो निरंजन सोइ ॥"

—नवनीत

श्रीनवनीतजीकी इस सरस-सूक्तिपर एक सुन्दर संस्कृत-सूक्ति और याद आ गयी है, जैसे—

कन्या गोकुलकन्या वयमिह सम्प्रामहे अगति ।
यासां नयनमपोज्झे अञ्जनमूर्तो निरंजनो वसति ॥

इसमें जरा जगन्नाथदास रत्नाकरजीकी भावना भी नंददासजी-की इस उक्तिके साथ देखिये । आप फरमाते हैं कि उद्धव—

"कर बिनु कैसें गाय दुहिहै हमारी वह
पद बिनु कैसें नाचि थिरकि रिझाइ है ।

जैसे 'रतनाकर' गगन-बिंदु कैसें काढ़ि—
मौखिन बजाइ बेनु मोहन नचाइ है ॥
कैसे तुमें कैसें दृग-मकरंद बिन्दौं ही हाय
मोरे ब्रज-बासिनि की बिरह बराइ है।
रावरी अनूप कोऊ अलख-अरूप ब्रह्म
ऊधौ ! कहौ कौन धौं हमारे कौन काइ है ॥'

उद्धव-वचन

(११)

अंड—लोक-मंडल अथवा गोलाकार-संसार—लोक-पिंड, ब्रह्मांड, विश्व। ब्रह्मांड—ब्रह्माजीका लोकमंडल अर्थात् जगत्, संसार, विश्व-गोलक, संपूर्ण विश्व जिसके भीतर अनंत लोक हैं। चौदह-भुवनोंका समूह आदि-आदि।

मनु भगवान् कहते हैं—स्वयंभू भगवान्ने प्रजा-सृष्टिकी इच्छासे पहिले जलकी सृष्टि की और उसमें बीज फेंका। अस्तु, उस बीजके पड़ते ही जलसे सूर्यके समान प्रकाशमान एक स्वर्णाभ—अंड वा गोला उत्पन्न हुआ, जिससे पितामह ब्रह्माका जन्म हुआ। उसमें आपने एक संवत्सरात्मक निवास करके उस अंड वा ज्योतिर्गोलकमें एक वर्ष रहकर उसके दो—आधे-आधे विभाग किये और फिर उस ऊर्ध्व-खंडमें स्वर्ग आदि लोकोंकी और अधोखंडमें पृथ्वी-आदिकी रचना की। अत यह विश्व-गोलक इसीसे 'ब्रह्मांड' कहा जाता है—आदि-आदि।

लीला—क्रीड़ा, विहार, खेल, कौतुक आदि।

गुरु के सरूप तुम्हैं ज्ञान दिखाइ देवैं
'रसरूप' वासों हेरि जोग मैं कलीन हैं।
वारी के बसन ओप पिया के प्रसीन यहाँ—
वासलों असीन सोम सुधा के नर्मीन हैं ॥'

यम-नियम—

आरजव अहिंसा छिमा दया धृति सत्याचार
सौच, मिताहार हार संजम के रच्छी हैं।
तृपा तप तोष आस्तिक-मति गुरु-मन्त्र
पूजा दान जप होम नेम-पथ गच्छी हैं ॥
'रसरूप' ऐते दस-दस-भाँति साधवी साधीं
पूरन सरस भाँति विविध अवरछी हैं।
साधन सकल इन्हें साधि-साधि सिद्ध होत
इन-बिन जोग जैसें पंख बिना पच्छी हैं ॥

प्राणायाम—

इंगला की नारी लीन और रामै करै लीन—
बीज-मंत्र लीन विधि षट्दल बताए तें।
म हैं निवासन सौं होत वाम दुसौं-पौन
स्रोत-सुन पावै दस-भाँति धुनि ध्याए तें ॥
स्वारतंग पट-चक्र भेद छिपै पैर करि—
भैरवी-सहित सुधा पूसो बसि आए तें।
'रसरूप' वाही रीती जोगी हैं अमर-कार
धीर कहा बौनापन बाँसुरी बजाए तें ॥

प्रत्याहार—

रूप तें पतंग के परस तें मतंग के—
सुगंध हू तें भृंग के कुरंग मैं मरे रहैं।
सबद तें कुरंग छवि रस तेज मच्छ गति
सुधि दै सँकोच अंग कच्छ के धरे रहैं ॥

दूसरो न रहै कोऊ लागि-लागि आठौं-जाम
'रसरूप' जामें जोगी जीव सों भरे रहैं।
हारें छिपो हरि कें न इंद्रिन को आहार देइ
हार कों छिप में 'प्रत्याहार' कों धरे रहैं॥

धारणा—

'भ्रमनि भ्रमनि छिपौ मन तें न कहीं चित—
प्रतिपदी उदक कंठ कैसी छिब मोंगें है।
हरकी दहन लाग्यो, कोम-पथ काढ़ है सो—
जमिनी पवन और मेघ गति मानें है॥
सोऊकिनी प्रकास ब्रह्म-रंध्र सों लिये पास
जामें महा-मुक्ति की उपाइ ठर कीनें है।
पाँच-पाँच घरी ध्यान जीव को पाँचौ-ठौर
पाँचौ-तत्त्व धारना की 'धारना' बखानें है॥

ध्यान—

'पहली पदस्थ ध्यावें अक्षर को ध्यान है कें,
दूसरो पदस्थ ध्यान गुरु को गनंत है।
त्रिकुटी में देखिये ज्योति-प्रकास-ज्योति-रूप
रूप में अभेद-भेद तीसरो गनंत है॥
'रसरूप' दसौं-दिसि पूरन-प्रकास लीजै
चौथो रूपातीत रूप रहत निरंत है।
नभ कैसो पंछी मन फेर में रहत जो कें—
जानत है फेर आदि पावत न अंत है॥

समाधि—

'रहत सोग मोतासौच सिद्धन प्रकास कीन
रूप-हीन रचन प्रपंच की कहौंगी मैं।

देवदेव दुष्ट सर्प भूत प्रेत, सिंह सर्प
कहूँ ते न से को अनेक-दुख-दाता मैं ॥
ब्रह्म, जीव एक माने परमातम छिप्यो मर्म
सब सों रहित है सर्गौंनी ना अपर्गौंनी मैं ।
ऐसी आत्मा, एकता सौं अचल समाधि मिले—
धाँय-धाँय मिलै जैसे पानी मिलै पानी मैं ॥

परब्रह्मपुर-धाम—परब्रह्मके पुर—नगरका धाम, अर्थात् 'मुक्ति' । धाम—आश्रय, अवलंब, वास आदि " ।

धाम रश्मौ गृहे देहे स्थाने जन्मप्रभावयोः । —हेमचंद्र

अंड, प्रसंग, भीख, अवतार, तप, जोग, जुगति, परब्रह्म और धाम-आदि शब्दोंके सरस प्रयोग—

निज "अंड" मैं रवि रची बहै ब्रह्म-परकास ।
—श्रीनिधि

"सब ब्रह्मांड" रच्यो जा भीतर असुमति-अति चोरौंगी ।
—कृष्णदास

"निज-गाई प्रभीयन" करत मनोहर स्याम-सकल गुन-धाम ।"
—चतुर्भुजदास

"धनि गोकुल, धनि नंद जसोदा जाके हरि "अवतार" धर्यौ ।"
—सूरदास

जाके लिएँ सुनी मेरी सजनी ! ... गाई मन "तप" की ।"
—कुंभनदास

"जोग" लियो किहि कारें रस बरसत अनुराग ।"
कृष्णदास

"जुगती" कछू बनी न बीर बनाई ।"
—श्यामदास

व्यापी सोई भहर-चर परमात्म' घर देह ।”

—मानस

“ब्योम बौंम” सरसुती सकुचि रही—
वा नास्तिक बरनत नहिं कोउ—कवि ।”

—हित हरिवंश

श्रीनन्ददासजीकी इस उक्ति—

“जाहि कहौ तुम कान्ह ताहि कोउ पिता न माता”

—पर श्रीमद्भागवतकी यह सूक्ति याद आ जाती है, यथा—

न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः ।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु ।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥

श्रीमद्भागवत १ । ४६ । ३८ ३९

अथवा—

युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥

—श्रीमद्भागवत १ । ४६ । ४२ ४३

श्रुतियाँ भी यही कहती हैं—

“दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः ।”

—मुण्डकोपनिषद् २ । १ । २

गोपी-वचन

(१२)

जोग—योग्य, उपयुक्त, उचित, पात्र, अधिकारी, सम्यक्, उचित। प्रान—मुख्य प्राण, अर्थात् शरीरकी वह वायु,—हवा कि जिससे मनुष्य जीवित रहता है। पर्याय वायु, जीव, अनिल, वायु, निश्वास।

"समीरमारुतमरुज्जग"प्राण' समीरणाः।'

—अमरकोष १।१।५८

शास्त्रकारोंने देश-भेदसे प्राणके दस भेद माने हैं, जैसे—'प्राण, अपान, व्यान, उदान समान, नाग, कूर्म, कृकिल, देवदत्त और धनंजय', पर इनमें मुख्य पूर्व-कथित पाँच ही माने जाते हैं और ये ही पञ्च-प्राण नाम प्रसिद्ध हैं। ये सब मनुष्य शरीरके भिन्न-भिन्न विभागोंमें कार्य किया करते हैं और इनके प्रकुपित होनेसे ही शरीरमें अनेकानेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। इन सबमें उक्त—'प्राण' ही सर्वोपर माना जाता है। जिस वायुको हम अपने नथुने—द्वारा—नाकके छिद्र—द्वारा साँस—रूप भीतर ले जाते हैं वही 'प्राण' कहलाता है। इसीपर मनुष्य और पशु-आदिका जीवन है। इस वायुका मुख्य-स्थान हृदय माना जाता है और प्राण धारण करनेके कारण ही साँस लेते मनुष्य और जन्तुओंको प्राणी कहा जाता है। क्योंकि मरनेपर श्वास-प्रश्वासका—अथवा इस वायुका गमनागमन बंद हो जाता है और लोग कहने लगते हैं कि इसके प्राण निकल गये। शास्त्रमें प्राण निकलनेके मार्ग—आँख, कान, नाक, मुँह, नाभी,

गुदा, मूत्रेंद्रिय और ब्रह्म-रंध्र—आदि माने गये हैं। लोगोंका कथन है कि मरनेके समय मनुष्य-शरीरसे जिस इंद्रिय-द्वारा प्राण निकलते हैं, वह कुछ अधिक फैल जाती है और ब्रह्म-रंध्र-द्वारा निकलनेपर खोपड़ी चटख जाती है। जैन-शास्त्रानुसार प्राण—मनोबल, वाक्बल और कायबलात्मक त्रिविध बलोंके साथ उच्छ्वास, निश्वास और आयुके समूहको कहते हैं। छांदोग्य ब्राह्मणके अनुसार प्राण, वाक्, चक्षु, श्रोत्र और मनको कहते हैं। वाराहमिहिर और आर्यभट्ट-आदिके मतानुसार प्राण, कालका वह विभाग जिसमें दस दीर्घ-मात्राओंका उच्चारण हो सके। यह विनाडिकाका छठा भाग है—आदि-आदि····।

पियूख—शुद्ध पीयूष, अर्थात् अमृत, सुधा, अमी आदि। वह तरल पदार्थ जिसके किंचिन्मात्र पड़नेसे मृतक जीव भी उठता है।

"पीयूषममृतं सुधा।"—कोश

धूरि—शुद्ध धूलि, अर्थात् रज, रेत, खाक, गर्द, मिट्टी, रेणु—आदि।

रेणुर्द्वयो स्त्रियां "धूलिः पांशुर्ना न द्वयो रजः।

—अमरकोश २। ८। ९९

धूरि पर "अब्दुल-रहीम खानखाना"की सरस-सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

"धूरि" उड़ावत सीस पै कहु 'रहीम' किहि काज।
जिहिं रज मुनि-पतनी तरी सो ढूँढ़त गजराज॥

—रहीमरत्नावली

जोग, प्रान, पियूख और धूरिके सरस प्रयोग—

"तुम इनके हम हैं इनके हो बात नहीं कछु "जोग"।
तुम तो चतुर प्रवीन हो ऊधव! कहा करेंगे जोग॥"

—सूरदास

"गोरस-बच-रस-स्याम-सिंध में परयौ 'जोग' को बेरो।"

—चतुर्भुजदास

"अति-गंभीर सुधि की आकह नैन—"पियूख आपी॥"

—परमानंददास

"'सूर' मरै मैन लेखत मीठिन आपी कहाँ सिर सुंदर मोटी।"

—सूरदास

जोग—उपदेशके अनन्तर श्रीसूरने भी प्रेमकी महत्ता दिखलाते हुए कुछ ऐसा ही कहा है, यथा—

ऊधो हमहिं न जोग सिखैए।
जिहिं उपदेस मिलैं हरि हमकौं सो ब्रत-नेम बतैए॥
मुक्ति रहौ घर-बैठि आपुने निर्गुन सुनि दुख पैए।
जिहिं सिर-केस कुसुम-भरि गूँदे तिहिं कैसें भसम चढ़ैए॥
जानि-जानि सब मगन भए हैं आपुन-आपु लखैए।
'सूरदास' प्रभु सुनौ नवौ-निधि बहुरि कहौ मन पैए॥

सूरके इस कमनीय खप्पर पर किसी उर्दू कविकी यह उक्ति भी सुन्दर है, जैसे—

"आँखें नहीं हैं चेहरे पर तेरे फ़क़ीर के।
दो ठीकरे हैं भीख के, दीदार के लिये॥

अथवा—

ऊधो करि रहीं हम जोग।
कहा ऐती बात कौंन देखि गोपी-लोग॥
सीस सेली केस मुद्रा कनक-बीरी बीर।
बिरह-भस्म चढ़ाइ बैठीं सहज कंथा-चीर॥
हृदै सिंगी टेर-मुरली नैन खप्पर हाथ।
चाहत हैं हरि-दरस-भिच्छा देहु दीनानाथ॥

जोग की गति सुनि हम पै 'सूर' देखौ जोइ।
कहत हम कौं करन जोग सँजोग कैसो होइ॥

अन्यत्र—

हमारैं, कौन बेद-बिधि साधे।
मधुपा, छोड़ी पंथ अकासा हठजोग कौ अराधे॥
जाकी कहुँ थाह नहिं पैयत, अगम अपार अगाधे।
गिरिधरलाल छबीले की छबि कहा पढ़ायौ पाधे॥
सुनि मधुकर जिन सरबसु चाख्यौ सो सकुचावत काचे।
"सूरदास" मनि-कोस छाँड़िकें, घुँघुचि-गाँठि को बाँधै॥"

कृष्णगढ़के महाराज ''नागरीदासजी'' कहते हैं—

ऊधौ सुनहिं आवति गारि।
कहा कहौं भेद-भेद की करि कौनि देति हौं टारि॥
यह मनोहर-माधुरी छबि नैन-मन-सुखसात।
तुम्हें फिर सुधि रही कैसें निरत निरगुन बात॥
बानिकनु हैं यह तिहारे कहन ही के बैन।
कमल बीतें पंक-परस मैं होत नहिं क्यों चैन॥
भक्ति-सागर प्रेम-बिधि मैं है हमारे जो मीन।
मरुस्थल मैं डारिये क्यों कहे तें मन-लीन॥

पुन —

ऊधौ तुम न जोग्य प्रेम।
बसौ मथुरा-राजधानी जहाँ व्यापक नेम॥
रूप-निरगुन-ग्यान-सूझे राजनीति प्रबंध।
प्रीति-नैननि रूप-दीपनि कहा जानैं अंध॥
इहाँ ब्रज मैं क्यों करौ जोग-नीरस-पाठ।
छाँड़ि 'नागर'-मधुर-रस को बीच चाखैं काठ॥

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

'ऊधौ कही सिखावनि सीखी ।
मीठे जिय की आनि अपनपी समुझि सिखावन दीबो ॥
जोग-वियोगी मन के जोगहु जोग-भोग जो आयौ ।
सो संजोग परिहरि पै-काजौ परमारथ हि बतायौ ॥
गोपी ग्वाल गाय गो-सुत सब रहत रूप अनुरागी ।
दीन-मलीन-छीन-तन डोलहु मीन-मजा सौं लागी ॥
'तुलसी' है सनेह दुखदायक, जानति नहिं ऐसी कोई ।
तऊ न होय नंदनंदन सौं मन सबै साधियहि सोई ॥'

आलम कवि कहते हैं—

'सुधि कै भुलान होत ऊधौ ऐसी कहिये है
जो है ऐसी बूझ सो भुलान किन बूझै जू ।
प्रगट परत मनमोहन बिसारी सुधि—
तुम सुधि करत हूँ दूसे कौन बूझै जू ॥
रसिक-लाल मेरे 'आलम' रहे हैं व्यापि
रीझि की रहनि मैं भुलान कहा सूझै जू ।
प्रेम जुगति आहि जोग-बिन ऐसी सुधि—
जोगमी जुगत पावैं जोग जानि सूझै जू ॥'

शेख कहती हैं—

'जब सुधि आवै तब तन बिनु-सुधि होत
तन-सुधि आये मन होत पात-पात है ।
सेख' कहै सरद-सरोज के से नैन सुधि
बाँसुरी की सुधि रसाल गात-गात है ॥
तुम ऊधौ आये उपदेस हम नाहीं ऊधौ—
जैसी एक बाँही तैसी बाँही सीख-सात है ।
प्रेम सौं बिरूचो जिय हा-हा किये काँधी जिमि
ऊधौ ज्ञान-बातनि की सूधी एक बात है ॥

क्योंकि—

जिन नैन जो दूसरी बात सुनैं पर्यौं एक ही रंग रह्यौ मिलि जोरी ।
दूसरो-रूप सुजान कहैं रसना जो कहै तौ कलंक-बोरी ॥
"ठाकुर" यों अपनी मन-बात, सु यों अभिलाख को सुभाव है भोरी ।
ऊधो जू, वे अँखियाँ करि कान जो साँवरो छाँड़ि निहारतीं गोरी ॥
—ठाकुर-ठसक

अथवा—

"प्यासे-प्यासि खोइ सोवति है हिम होइ
ये न फिरि गुंजन लौं आइ अपनावहीं ।
जाकी मन मीन सुर-लीन है मलीन भयो
जो न सुधि बाँसुरी की सुधि बिसरावहीं ॥
सुधा-सिंधु-वारि बाढ़ु, सुधा-सुधा जानि गई
कैसी मृग-वारि जानि कहीं सुधा पावहीं ।
कालिन्दी सँजोगी हम गोरस की रोगी ऊधो
[illegible] कैसे जोगी जोग-माँहि मन लावहीं ॥"
आँखिन के चलाए आप चख हैं सुहाए ऊधो
जागे मन सोवत ही आनि मिलि लीजिये ।
नैन-बारसैं बिलाप प्यासि की न है बुझाइ
कैसे जोग करी बरावरी बीच कीजिये ॥
जानें हम कहा जोगी जती हैं बियोग-रोगी
सीखो तुम जोग ऐसी जोगी सखि लीजिये ।
होइ अभि ग्राहक सिखावो जोग जौहर को
गाहक के बिनाँ जग जौहर न कीजिये ॥

भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

ऐहि उर हरि-रस परि गयो ।
तन में मन में जिय में सब ठौं कृष्ण-ही-कृष्ण भयो ॥

क्योंकि—

> जाहि सुख-मंडल की चंदिनि सरीरैं सदा
>
> हम कौं तिहारी ब्रह्म-जोति करिबौ कहा।
>
> कहै "रतनाकर" सुधाकर-उपासिनि कौं
>
> भानु की प्रभा की प्रभातनिकौ हुतासिनि करिबौ कहा॥
>
> भोगि रहीं बिरचे बिरच के सँजोग सबै
>
> ताके सोग सारत कौं जोग करिबौ कहा।
>
> जब ब्रज-चंद को चकोर-चित चारु भयौ
>
> बिरह-चिनगारिनि सौं फेरि करिबौ कहा॥"

उद्धव-वचन

(१२)

ईस—शुद्ध ईश, अर्थात् प्रभु, स्वामी, महादेव, ऐश्वर्यशाली—आदि-आदि।

शम्भुः ईशः पशुपतिः शिवः शूली महेश्वरः।"

ईश—शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—"ग्यारहकी संख्या, आर्द्रा-नक्षत्र, राजा, एक उपनिषद्, ईशान-कोण" पर यहाँ उक्त-शब्द "शिव" के अर्थमें ही प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि इसका सम्बन्ध "धूरि" शब्दसे जुड़ा हुआ है।

धूरि-छेत्र—शुद्ध धूलि-क्षेत्र, अर्थात् पृथ्वी, जमीन, धरती।—अथवा धूरि-छेत्र "मथुरा" का भी नाम है यथा—

"धूरि-छेत्र" मथुरा-पुरी बसै जहाँ भगवान।" —दयाल

करम—शुद्ध कर्म, अर्थात् जो किया जाय, अथवा जो करना हो।

"कर्म" क्रिया—तत्सातत्ये " "।

अमरकोष १।१।१

वैशेषिकके अनुसार "कर्म" छह है—पदार्थोंमेंसे एक है जो कि एक-द्रव्यमें हो, गुण न हो और संयोग तथा विभागमें अनपेक्षता का कारण हो। कर्म पाँच-प्रकारके माने जाते हैं जैसे—"उत्क्षेपण अर्थात् ऊपर फेंकना, अवक्षेपण—नीचे फेंकना, आकुञ्चन—सिकोड़ना, प्रसारण—फैलाना और गमन, अर्थात् चलना। मीमांसक कर्मको दो प्रकारका मानते हैं जैसे—"गुण या गौण—कर्म और प्रधान या अर्थ कर्म। गुण-कर्म वह है जिससे द्रव्यादिकी प्राप्ति हो—संस्कार हो और प्रधान या अर्थ-कर्म वह कहलाता है जिससे द्रव्यकी उत्पत्ति या शुद्धि न हो अपितु उसका उपयोग हो। उक्त प्रधान या अर्थ-कर्मके मीमांसक इसे ही प्रधान, अर्थात् "प्रधान"को ही प्रधान मानकर "नित्य, नैमित्तिक और काम्य" क्रमसे तीन भेद मानते हैं। नित्य कर्म वह जिसके न करनेसे पाप हो, अर्थात् जिसका करना परम कर्तव्य हो और नैमित्तिक कर्म उसे कहते हैं जो कि किसी विशेष अवसरपर किया जाय। इसी प्रकार जो कर्म किसी फल-विशेषकी कामनासे किया जाय वह "काम्य"—कर्म कहलाता है। योग-सूत्र-की वृत्तिमें भी भावन कर्मके—"विहित, निषिद्ध और मिश्र" नामसे तीन ही भेद मानते हुए जाति, आयु और भोगको कर्मके विपाक-फल कहा है। जन्मके भेदसे भी कर्मके "संचित, प्रारब्ध, क्रियमाण और "भावी" चार-भेद कहे हैं। जैन-दर्शनके अनुसार कर्म—पुद्गल और जीवके अनादि सम्बन्धसे उत्पन्न माना जाता है, वह इसीसे जैन इसे, अर्थात् कर्मको "पौद्गलिक" कहते हैं। कर्मके—घाति और अघाति दो भेद और भी कहे जाते हैं। घाति, अर्थात् मुक्तिका बाधक और "अघाति" मुक्तिका अबाधक माना जाता है। आदि-आदि ... ।

हरि-पद—हरिका पद, अर्थात् मुक्ति। लोक-चतुरदस—चतुर्दश-लोक, अर्थात् चौदह-लोक। चौदह-भुवन, विश्व-विभाग।

"लोक"स्तु भुवने जने। —अमरकोश ३।४।२

अथवा—

"लोको', विष्टप भुवनं जगत्।"
—अमरकोश ३।१।६

यों तो उपनिषदोंमें—"इह-लोक और पर-लोकरूप दो ही लोक माने हैं, पर निरुक्ति-शास्त्रमें पृथ्वी, अन्तरिक्ष और द्युलोक नामसे तीन-लोकोंका उल्लेख किया गया है। जिनका दूसरा नाम भू, भुव और स्व है और ये ही महाव्याहृति कहलाते हैं। इन तीन, अर्थात् भूः भुव और स्व स्वरूप महाव्याहृतियोंकी भाँति और भी चार-महाव्याहृतियाँ कहलाती हैं जैसे—"मह, जन, तप और सत्य—आदि। अस्तु, इन सात-व्याहृतियोंके नामसे ही सात-लोकोंकी कल्पना पुराण-कालमें की गयी है, यथा—भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तप लोक और सत्य-लोक आदि"। इनके बाद फिर पातालके अंतर्गत सात लोकोंकी और भी सृष्टि हुई, जैसे—अतल, नितल, वितल, गर्भस्तिमान, तल, सुतल और पाताल आदि। परंतु पुराणोंमें इन नामोंके प्रति विभेद भी मिलता है, जैसे—पद्म-पुराणानुसार—अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल। अग्नि-पुराणके अनुसार—अतल, वितल, सुतल, गभस्तिमान, महातल, रसातल और पाताल। विष्णु-पुराणानुसार—अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान, महातल, सुतल और पाताल।

अतलं वितलं चैव नितलं च गभस्तिमत्।
महाख्यं सुतलं चाग्र्यं पातालं चापि सप्तमम्॥"
(विष्णुपुराण २।५।२)

सात-दीप—द्वीप सप्त-द्वीप, अर्थात् जलके द्वारा सात-विभाग जो चारों ओर जलसे घिरे हों, जल मध्यस्थ पृथ्वीके—जमीनके सात खण्ड—विभाग।

द्वीपो"ऽस्त्रियामन्तरीपं यदन्तर्वारिणस्तटम्।"
—अमरकोष १।१। ।८

पुराणानुसार सात द्वीपोंके नाम इस प्रकार हैं यथा—जम्बूद्वीप, कुशद्वीप, प्लक्षद्वीप, शाल्मलीद्वीप, क्रौंचद्वीप, शाकद्वीप और पुष्करद्वीप।

"जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्करसंज्ञास्तेषां ॥"
—श्रीमद्भागवत ५।२।१२

और इनकी कथा पुराणोंमें इस प्रकार कही जाती है कि एक बार महाराज प्रियव्रतने यह सोचा सूर्य पृथ्वीके एक ओर ही उजेला करता है अतः आपने एक चमचमाती हुई गाड़ीपर बैठकर सात बार पृथ्वी-प्रदक्षिणा की। गाड़ीके पहियोंके धँसनेके कारण पृथ्वीपर सात वर्तुलाकार गढ्ढे पड़ गये जो कि समुद्र बन गये। इन्हीं सातों समुद्रोंसे परिवेष्टित होनेके कारण इन सात द्वीपोंकी सृष्टि हुई—आदि-आदि ... .।

यावदवभासयति सुरगिरिमनुपरिक्रामन्भगवानादित्यो वसुधातलमर्धेनैव प्रतपत्यर्धेनावच्छादयति तदा हि भगवदुपासनोपचितातिपुरुषप्रभावस्तदनभिनन्दन्समजवेन रथेन ज्योतिर्मयेन रजनीमपि दिनं करिष्यामीति सप्तकृत्वस्तरणिमनुपर्यक्रामद् द्वितीय

एव पतङ्गः। ये वा उ ह तद्रथचरणनेमिकृतपरिखातास्ते सप्त-सिन्धव आसन् यत एव कृताः सप्त भुवो द्वीपाः।

श्रीमद्भागवत ५ । १ । १ , ३१

नौ-खंड—नव खंड, अर्थात् पृथ्वी के भाग, खंड, टुकड़े।

भित्तं शकल—'खण्डे वा ।

अमरकोश १ । १ । १०

उक्त नौ खंडोंके नाम इस प्रकार हैं—'भरत, इलावर्त, किंपुरुष, भद्र, केतुमाल, हिरण्य, हरि, रम्य और केतुमाल।

हंस, भूरि-क्षेत्र, करम, हरि-पद, लोक-चतुरदस, सात दीप और नौ-खंड—आदि शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

'जुग-जुग जियौ 'गोकुल के 'हंस'।'—गोविन्द स्वामी
भ्रमर भए 'भूरि-क्षेत्र में आई।'—भगवानहित
'करम' गति टारी नाहिं टरै।'—सूरदास
'हरि-पद' कमल किये ही पायो।—ब्रजकरन
लोक—'चतुरदस' ताहि रहैं वे ठाकुर केसवदेव हमारे।

—रघु-कवि

'सबै हमारो राज है हो 'सात-दीप' नौ खंड।'

—कुंभनदास

नंददासजीकी इस उक्तिपर मुल्ला-शाहकी एक बानी याद आ गयी है, जैसे—

'मौंडी मुरी करौं भी बार।
मौंडी घोड़ा मौंडी चीड़ा मौंडी पर असवार॥
मौंडी मौंडी-मारन आगी मौंडी है हथियार।
जिस मौंडी पर बहुआ मौंडी तिस मौंडी दीदार॥

माँटी बाग बगीचा माँटी माँटी ही गुलजार ।
माँटी, माँटी-देवल जाई माँटी ही बहार ॥
हँस-बोले फिर माँटी हीं ही पीढ़ी पाँव-पसार ।
'गुलमस्तार' गुमावे गुम्ही जाइ सिरों भी-भार ॥

अथवा—

'एक-दिन माञ्जता थे राजा एक-दिन माँटी में मिल जाना ।
माँटी रहैया माँटी-बिछौना माँटी ही कफन बनाना ॥
माँटी माई माँटी भाई, माँटी जगत-सुमाना ।
इक दिन सुपनपा सन माँटी माँटी पै बौराना ॥

—कोई कवि

गोपी-वचन

(१४)

करम-धूरि—शुद्ध कर्म-धूलि, अर्थात् कर्म-कांड, यज्ञादि कोरा । लीनि—लेकर । प्रेम-अमृत—प्रेमरूपी अमृत । उर—हृदय, छाती हिय, वक्ष स्तन-आदि ।

उरो—वत्सञ्च वक्षश्च ।'

—अमरकोष २ । ६ । ११

जीव—शुद्ध जीव, अर्थात् प्राणी, प्राणधारी, चेतन, जानदार ।

" " " 'जीवो'ऽसुधारणम् ।"

—अमरकोष २।८।८८

बिमुख—विमुख, अर्थात् पराङ्मुख, मुख फेर लेना, विरोधी हो जाना । उदासीन, विरक्त, विरत, अतत्पर आदि ।

परम-धूरि, भौनि,* प्रेम-अमृत, उर, जीव और त्रिभुवन शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"परम धूरि" मिलि को सुख पावो।"
—[illegible]

तिनकी "भौनि" कहा हम मेटहिं।
—[illegible]

और, सुख "प्रेम-अमृत" सो पूरन।"
—नन्ददास

सिमि [illegible] "उर" [illegible]।"
—परमानन्ददास

"जीव" [illegible]।"
—[illegible]

तू कत "त्रिभुवन" [illegible] प्यारे सों - - ।"
—[illegible]

उद्धव-वचन

१५

निंदी—बुरा, दूषित, अपयश, कुत्सा, गर्हा, अपवाद, दुर्नाम, इससे बना है—निंदी।

"- - कुत्सा निन्दा च गर्हणम्।"

सद्गति—अच्छी, सुन्दर गति, उत्तम गति, मरण-उपरान्त शुभ लोककी प्राप्ति। बली—बलवान, समर्थ, पराक्रमी। त्रिभुवन—

---

* भौनि शब्दका अर्थ भोर होते है—और तथा भवन। जैसे—
कहति "भौनि-की-भौनि।" —हरिदासजी
"भौनि" है कासि, मधुर रिप-प्यारी।'
—कृष्णदास

तीन-भुवन, अर्थात् स्वर्ग, पृथ्वी और पाताल। उतपति—शुद्ध उत्पत्ति, अर्थात् पैदा होना, जन्म लेना। नास—शुद्ध, नाश अर्थात् क्षय, ध्वंस, लय, अदर्शन, पलायमान, गायब होना आदि।

स्यात् 'नाशो' मृत्युर्मरणं निधनो स्त्रियाम्।"
—अमरकोश २।८।८९

सांख्यवाले कहते हैं कि कारणमें लय होना ही नाश है, क्योंकि जो वस्तु है उसका अभाव नहीं हो सकता। कारणमें लय हो जानेसे सूक्ष्मताके कारण वस्तुका बोध नहीं होता, अस्तु जब कोई कार्य कारणमें इस प्रकार लीन हो जाता है कि वह फिर कार्यरूपमें न आ सके तब नाश या आत्यन्तिक नाश कहलाता है। नैयायिक नाशको ध्वंसाभाव मानते हैं।

मुक्ति—आवागमनसे पृथक् पुनः जन्म न लेना, अथवा दुःखकी अत्यन्त निवृत्ति और परम-नित्य सुखकी प्राप्ति। कैवल्य, निर्वाण, श्रेय, मोक्ष, अपवर्ग और परित्राण आदि।

"मुक्तिः" कैवल्यनिर्वाणश्रेयो निःश्रेयसामृतम्।"
—अमरकोश १।५।१६

मुक्ति, " 'सालोक्यादिचतुष्टयम्' के अनुसार सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य" चार प्रकारकी कही जाती है, पर श्रीमद्भागवत पाँच प्रकारकी "मुक्ति" का भी उल्लेख करता है। जैसे—

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत",
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।
—श्रीमद्भागवत ३।२ ।१३

अर्थात् सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व यानी सायुज्य'', लेकिन मुख्य चार ही हैं। सालोक्य-मुक्ति उसे कहते हैं—जब जीव अपने आराध्यदेवके साथ एक-लोकमें—एक जगह वास करे। सामीप्य-मुक्ति, जीवका भगवान्‌के समीप—पास पहुँचनेको कहते हैं और सारूप्य—मुक्ति उसे कहते हैं जब कि उपासक अपने उपास्यके रूप-जैसा हो जाय, अर्थात् समान रूप हो जाय—एकरूपता प्राप्त कर ले तथा सायुज्य-मुक्ति वह कि उपासक उपास्यमें मिल जाय, एकरूप हो जाय, अर्थात् वह वही हो जाय।

मुक्तिके विषयमें पुराण और साम्प्रदायिक—आचार्योंमें बड़ा विभेद है, कोई चार प्रकारकी मुक्ति मानते हैं तो कोई पाँच प्रकारकी। श्रीमद्भागवतमें भी चार प्रकारकी और पाँच प्रकारकी मुक्तिका उल्लेख मिलता है, जैसा उद्धृत किया जा चुका है। ''ब्रह्मवैवर्त'' दो प्रकारकी ही मुक्तिका उल्लेख करता है। यथा—

> 'मुक्तिस्तु'' द्विविधा'' साध्वि ! श्रुत्युक्ता सर्वसम्मता।
> निर्वाणपददात्री च हरिभक्तिप्रदानृणाम् ॥''
>
> —प्रकृति-खण्डे

नामोल्लेखमें भी मतभेद है। कोई तो सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सारूप्य और एकत्व, अर्थात् सायुज्यको पाँच प्रकारकी मुक्ति मानते हैं और कोई ''सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य, सायुज्य (एकत्व) और निर्वाण''—आदि पाँच प्रकारकी मुक्ति मानकर श्रीमद्भागवतके उक्त श्लोकका ही पाठ बदल देते हैं। जैसे—

सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।"

पाठान्तर—

सार्ष्टिसारूप्यसालोक्यनिर्वाणैकत्वमप्युत ।

चार प्रकारकी मुक्ति माननेवालोंमें भी मतभेद है। कोई "सालोक्य, सामीप्य सारूप्य और सायुज्य आदिको—

" "सालोक्यादिचतुष्टयम् ।"

—श्रीमद्भागवत ९ । ४ । ६७

मुक्ति-चतुष्टय मानता है, तो कोई सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सायुज्यरूप मुक्ति चतुष्टयको मानता है । इसी प्रकार मुक्तिकी व्युत्पत्तिमें भी मतभेद देखनेको मिलता है । वेदान्तिक कहते हैं—

नित्यसुखावाप्ति मुक्तिः ।

अर्थात् नित्य-सुखकी प्राप्ति ही मुक्ति है। नैयायिक कहते हैं—

आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिः मुक्तिः ।

अर्थात्—अत्यन्त दुःख-निवृत्ति ही मुक्ति है । मत्स्य-मुनि कहते हैं—

शरीरेन्द्रियाभ्यामात्मनो मुक्तत्व मुक्तिः ।"

परब्रह्म-पुर-बास—परब्रह्मके पुर—नगर, गाँवका बास, अर्थात् रहना । स्थान, बास-स्थान—रहनेका स्थान ।

परब्रह्म—जगत्से परे, अर्थात् निर्गुण निरुपाधि ब्रह्म ।

पुर—

पुरोधिकमुपस्थ्याऽगाव्य नगरं नगरे "पुरम्" ।"

—अमरकोश १ । ४ । १८५

निरौ, सद्गति, बसौ, त्रिभुवन, उतपति, नास, मुक्ति, परब्रह्म,
र और वासके सरस प्रयोग।

"निरौ" कर सुरपति की पूजा।
—परमानन्ददास

"सद्गति" होति चरन-चित लायें।
—गुप्तदास

"बसौ" जु ऐसे होजु जाइ मारी विधि बसाहिं।
—कुम्भनदास

"त्रिभुवन"—सोभा छवि सबी राधिका बनाई।
—रामदास

है "उतपति" को कारन यही।"
—सूरदास

"भक्ति-विपत्ति को "नास" करन में तनक बार नहिं लावत।
—आनन्दीदास

"सबै बैकुंठ "मुक्ति" मोच्छ पाए। —नानक
"सो "परब्रह्म" प्रकट है ब्रज में हरि-हरि दधि लावा है।
—परमानन्ददास

अब क्यों कैसें या पुर" बसिये।" —श्यामदास
महरि, हम कौनको हो यह "बास"।
—माधवदास प्राचीन

कुछ ऐसी ही कमकी महत्ता, श्रुतियाँ भी प्रतिपादित करती हैं, यथा—

'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।"
—ईशोपनिषद् २

'तौ ह यदूचतुः कर्म हैव तदूचतुरथ—
यत्प्रशशंसतुः कर्म हैव तत्प्रशशंसतु' ।'
—बृहदारण्यकोपनिषद् ३ । २ । १३

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥"
—कठोपनिषद् ५ । ७

श्रीमद्भगवद्गीता भी यही कहती है—

"न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥ ५ ॥"
"कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥"

अथवा—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ ८ ॥"
"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर ॥ ९ ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता ३ । ५ से ९

और भी—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः ।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु ॥"
"यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता १८ । ४५-४६

श्रीमद्भागवत कहती है—

कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन्वातदर्पणम् ।"

—अध्याय १ । १

श्रीविष्णुपुराणमें कहते हैं—

"कर्मणा जायते सर्वं कर्मैव गतिसाधनम् ।"

—प्रथम अंश ११

श्रीगोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

"करम प्रधान बिस्व रचि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ॥"

—रामचरितमानस

गोपी-वचन

(१६)

पाप—वह कर्म, जिसका लोक-परलोकमें अशुभ फल हो। वह आचरण, जिसके करनेसे अन्तमें अशुभता उत्पन्न करे। वह कर्म, जो कर्ताका अधःपात करे अथवा ऐसा कर्म जिसका परिणाम कर्ताको दुःखप्रद हो। व्यक्ति और समाजके लिये अहितकर आचरण। धर्म और नीति-शास्त्रोंसे निंदित आचरण। अनाचार, गुनाह, निंदित कर्म, अकल्याणकर कर्म अधर्म, कलुष, कल्मष, अघ—आदि।

"अस्त्रीपङ्कं पुमान्पाप्मा पाप" किल्बिषकल्मषम् ।"

—अमरकोश १ । ५ । ६

श्रीव्यास-वचनानुसार "पाप" और "पुण्य" की एक व्यवस्था और भी है। जैसे—

"परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीडनम् ।"

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

"काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥"

पुन—शुद्ध पुण्य, अर्थात् वह कर्म जिसका फल शुभ हो । पवित्र कार्य, शुभ-कार्य, धर्म और नीतिविहित काम—काम । भले काम, शुभ-अदृष्ट, सुकृत-आदि ।

"स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्य श्रेयसी सुकृत वृषः ।"
—अमरकोश १ । ५ । २

सरग—शुद्ध सर्ग, अर्थात् देवताओंका लोक—निवासस्थान । अन्तरिक्ष ।

स्वरव्ययं स्वर्ग नाकत्रिदिवत्रिदशालयाः । '

भोग—सुख और दु:खोंका अनुभव । इन्द्रियजन्य विषयोंको भोगना । कर्मानुसार फलोंको पाना । दु:ख-सुख सहना आदि ।

"भोगः" सुखे स्त्र्यादिभृतावहेश्च फणकाययोः ।
—अमरकोश ३ । ४ । २४

अथवा—

"पालनेऽभ्यवहारे च निर्वेशो पण्ययोषिताम् ॥
—विश्वकोश

बिषै-वासना—शुद्ध विषय-वासना, अर्थात् विषयोंकी वासना । विषय—इन्द्रियार्थ वस्तु, पदार्थ, भोग-विलासादिक ।

"रूप शब्दो गन्धरसस्पर्शाश्च "विषया"*—अमी । '
—अमरकोश १ । ५ । १६

* यहाँ "विषया" बहुवचनात्मक है । एक वचन "विषय" ही होगा ।

वासना—इच्छा, कामना, वाञ्छा, चाह, प्रत्याशा । अथवा किसी पूर्व स्थितिके बने हुए प्रभावसे उत्पन्न मानसिक दशाविशेष । भावना, संस्कार, स्मृति हेतु । न्यायानुसार देहात्मबुद्धिजन्य मिथ्या संस्कार ।

रोग—व्याधि, पीड़ा, दुःख, शारीरिक अस्वस्थता । अथवा वह अवस्था जिससे शरीर भले प्रकार न चल सके और बहुतेरा जीनेमें संदेह हो । बीमारी, मर्ज आदि ।

"“रोग”—व्याधिगदामयाः

पाप, पुन्न, सरग, भोग, विषै-वासना और रोगादि शब्दोंके सरस प्रयोग ।

“पाप” करति हौ जनम गँवायौ भज्यौ न कबहुँ जगदीस ।”

—परमदास

“उनकी ‘पुन्न’ की पुंज साँवरी सकल सिद्धि दातार ।”

—चतुर्भुजदास

“मारयौ भूमि पछोरि स्वाँस लै क्षत्रिन “सरग” पठयौ ।

—सूरदास

“करम-अकरम करि-करि या जगमें भोगत है जिमि “भोग ।

—धनश्रीदास

विषै”-रस कबहूँ सुख ना भोगत ।

—मनविनोद

“वासना” कबहूँ नाहिं बुझानी ।”

—गदाधरभट्ट

“बाढ़ यह उपज्यौ हौ भयौ रोग” ।

—रसिकजन

"कर्म पाप औ पुन्य, लोह-सोने की बेरी", अर्थात् कर्म रूप पाप और पुण्य, लोहे व सोनेकी बेड़ियाँ हैं। अच्छे वा बुरे दोनों प्रकारके ही कर्म, जीवात्माको बाँधनेवाली लोह और स्वर्ण जैसी बेड़ियाँ हैं। वस्तु उक्त बेड़ियोंसे, अथवा कर्मरूप बंधनोंसे, जीवात्मा तब ही मुक्त होता है जब कि वह कर्मबन्धनका परित्यागकर, परमात्मा को सच्चे प्रेमसे आराधना करने लगे। कर्म-अकर्मकी चिन्ता न कर, सच्चे दिलसे उसके ध्यानमें मग्न जाय। क्योंकि कर्म, स्वर्ग-नर्क, भोग-रोगके साधन हैं, भगवत्प्राप्तिके नहीं। जैसा कि श्रुतियाँ कहती हैं, यथा—

"एष ह्येवैनं साधुकर्म कारयति तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषते। एष एवासाधु कर्म कारयति तं यमधोनिनीषते।
—कौषितक्योपनिषद् ३। ९

। यथाकारी यथाचारी तथा भवति साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापो भवति पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन। अथ खल्वाहुः काममयम् एवायं पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।"

—बृहदारण्योपनिषद् ४। ४। ५

गीतामें यही कर्मकी व्यवस्था, श्रीभगवान् भी अर्जुनके प्रति करते हुए कहते हैं —

'युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते॥'
—गीता ५। १२

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्॥
'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
"तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते॥"
"प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्॥"

—गीता ३।२५, १९, २८, २९*

'कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥"
"कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥"
'त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः॥"
'निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
'यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते॥'

—गीता ४।१७, १८, २०, २१, २२

कुछ ऐसी ही बात श्रीमद्भागवतमें राजा-निमिके प्रति 'अन्तरिक्ष' द्वारा भी कहलायी गयी है, जैसे—

---

* हमने गीताकी इन उक्त सूक्तियोंको क्रम-विपर्ययके साथ उद्धृत किया है। किन्तु लाला कन्नोमलकृत 'गीतादर्शन' के अनुसार उक्त सूक्तियोंका मर्म-क्रम ठीक है।

'कर्माणि कर्मभिः कुर्वन्सनिमित्तानि देहभृत्।
तत्तत्कर्मफलं गृह्णन्भ्रमतीह सुखेतरम्॥
इत्थं कर्मगतीर्गच्छन्बह्वभद्रवहाः पुमान्।
आभूतसम्प्लवात्सर्गप्रलयावश्नुतेऽवशः॥

—श्रीमद्भागवत ११।१।६, ७

'एवं लोकं परं विद्यान्नश्वरं कर्मनिर्मितम्।
न तुल्यातिशयध्वंसं यथा मण्डलवर्तिनाम्॥

—श्रीमद्भागवत ११।१।२

'कर्माणि दुःखोदर्काणि कुर्वन्देहेन तैः पुनः।
देहमाभजते तत्र किं सुखं मर्त्यधर्मिणः॥''
गुणाः सृजन्ति कर्माणि गुणोऽनुसृजते गुणान्।
जीवस्तु गुणसंयुक्तो भुङ्क्ते कर्मफलान्यसौ॥

—श्रीमद्भागवत ११।१ ।२१, ३१

गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं—

सुभ अरु असुभ करम अनुहारी।
ईस देइ फल हृदि बिचारी॥
कहु न कोउ सुख दुखकर दाता।
निज कृत करम भोग सब भ्राता॥

—रामचरितमानस अयोध्या

दादू-दयालजी कहते हैं—

"घटु मिलै ज्यौं बंद कौं गगन मिलै ज्यौं धूर।
करम मिलै यौं जीव कौं नख-सिख लागै पूर॥
करम-कुहाड़ा अंग-वन काटत बारंबार
अपने हाथों आपको काटत है संसार॥"

हैं। जैसे—चक्षु, श्रोत्र, नासिका, रसना और त्वचा। कर्मेन्द्रिय उन्हें कहते हैं—जिनके द्वारा विविध कर्म किये जायें और उनके नाम ये हैं—वाणी, हाथ, गुदा, पैर और उपस्थ। वेदान्तवाले इनके अतिरिक्त एक उभयात्मक अन्तरेन्द्रिय—मनको, मन, बुद्धि, अहंकार और चित्तरूप चार विभाग कर ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियमें जोड़ चौदह प्रकारकी मानते हैं।

"कर्मेन्द्रियं तु पाय्वादि मनोनेत्रादिधीन्द्रियम्।"

ब्रह्म-अगिन—शुद्ध ब्रह्म-अग्नि, अर्थात् ब्रह्मरूप अग्निमें जलकर। ब्रह्म-अग्निमें कर्मोंको जलाकर।

श्रीनन्ददासजीने इस छन्दमें कर्मोंका हवन करनेके लिये—उनका त्यागनेके लिये ही अधिकरण बतलानेको ब्रह्मको अग्नि कहा है क्योंकि ब्रह्म-ज्ञानी, कर्मोंका ब्रह्ममें ही अधिकरण करनेसे मुक्ति लाभ करते हैं। जैसा श्रुतियाँ प्रतिपादन करती हैं, यथा—

'ब्रह्मार्पणं सर्वं ब्रह्मसमर्पणं ब्रह्म।"

—तैत्तिरीयोपनिषद्

श्रीमद्भगवद्गीता कहती है—

'ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥

अथवा—

ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।"

(गीता ४। २४ २५)

समाधि—ध्यान-योगकी क्रियाविशेष। सबसे पहिले समाधिके मुख्यतया दो—सानिराम और निरनिराम भेद होते हैं। सानिराम-

समाधिमें ध्याता और ध्येयका बोध होता है और निरतिशय-समाधिमें वेदान्तियोंका अन्तिम अनुभव ही वर्तमान रह जाता है।

कहते हैं योगका परम फल समाधि है और यह आठ अंग—यम, नियम, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान-धारणा आदिमें मुख्यरूपसे अन्तिम अंग माना जाता है। समाधि-अवस्थामें साधक सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है, जिसकी सभी वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और बाह्य जगत्से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता। उसे अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अन्तमें 'कैवल्य' भी। योगदर्शनमें 'समाधि' के कई भेद बतलाये हैं।

लीन—मिलना, समा जाना, डूबना, तन्मय, तत्पर—आदि। सायुज्य—शुद्ध सायुज्य अर्थात् एक प्रकारकी मुक्ति। जिसमें साधक या भक्त साध्यमें—ईश्वरमें मिल जाता है, एकत्वता प्राप्त हो जाता है, अभेदत्वको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् वह वही हो जाता है।

पदमोंसल, ईंद्री, ब्रह्म-अगिन, समाधि, लीन और सायुज्यादि शब्दोंके सरस प्रयोग।

'मन हम 'पदमौंसल' की मारें जोग-जुगत पर ठावें।

—रामदास

"ईंद्री" अबहुँ न थिरै तजत। —उद्धवदास

"ब्रह्म-अगिनि" जरि मुक्ती पावौ।

—गुलाबदास

सिद्ध-समाधि" लगत नहिं दरसी मोहनी सूरत प्यारी।"

—रामदास

मन अब ऐसो "लीन" भयो। —मुरारीदास

"सायुज्य-मुक्ति" कहीं बखान।
बेद-पुरान सबै परमान॥ —सूरसागर

गीतामें भगवान् भी कुछ ऐसा ही कहते हैं—

"योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"
बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
—गीता २। ४८। ५

क्योंकि—

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर॥
कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्तुमर्हसि॥
—गीता ३। ९ २

श्रीमद्भागवतमें भी यही कहा है—

"नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः।
विकर्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति सः॥
वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
(एकादश ३। ४५-४६)

श्रीसूर कहते हैं—

जोगी पद्मासन चित लावौ।
नैन-मूँदि अंतर-गति ध्यावौ॥
हरै-कँमल मम जोति प्रकासी।
सो अच्युत अबिगति अबिनासी॥
इहि उपाइ बिरहा-तन मेरौ।
"सूर" जोग अराधौ नेरौ॥

गोपी-वचन

१८

भक्त—सेवा करनेवाला, भजन करनेवाला, भक्ति करनेवाला। सेवक, तत्पर अनुगत, उपासक। गीतानुसार भक्त, आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी आदि*। श्रीमद्भागवत-अनुसार भक्त नवधा भक्ति—

"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥"

—के करनेसे नौ प्रकारका होता है। इसी तरह श्रीवल्लभाचार्यने भक्तोंका अन्यपूर्वा और अनन्यपूर्वा नामसे प्रथम दो भेदकर पुन उसके सात्विक, राजस और तामसादि अठारह भेद मान और एक निर्गुण मिला, अठारह—नहीं उन्नीस भेद माने हैं। यथा—

'राजसी तामसी चैव सात्त्विकी निर्गुणा तथा।
एवं चतुर्विधा गोप्यः पतिमत्योनिरूपिताः॥
तथैवानन्यपूर्वाश्च प्रार्थनामाप्रुरुत्तमाम्।
गुणातीताः सात्त्विकीश्च तामसी राजसीस्तथा॥
कृष्णभावनया सिद्धा विशेषेणाह ताः शुकः।

---

* सकाम-भक्तोंके आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी चार भेद होते हैं जैसा कि ऊपर उल्लेख हो चुका है। अस्तु, जो अपनेपर आये हुए संकटोंसे मुक्ति पानेके लिये अथवा विपरीत संयोगसे छूटनेके निमित्त जो भक्ति की जाती है वह आर्त-भक्त कहलाता है। जिज्ञासु भक्त ईश्वरके प्रति प्रारम्भिक प्रेम न होनेपर भी उनके गुण और कार्य जाननेकी आतुरता दिखलाता है और जो किसी निमित्तकी इच्छासे ईश्वरकी प्रार्थना करता है वह अर्थार्थी-भक्त कहलाता है।

> अनन्यपूर्विका एव पुनस्त्रिधा गुणा मताः ॥
> सात्त्विकी तामसी चैव राजसी चेति निर्गुणा ।
> सपूर्वश्च ततस्तिस्रः तामसी राजसी परा ॥
> पुनस्ता एव त्रिविधा भक्तीत्याद्भिभिस्त्रिभिः ।
> राजसो तामसी चैव सात्त्विकीति विभेदतः ॥
> अनन्यपूर्वा द्विविधा राजसी सात्त्विकी तथा ।
> तामसा तामसी तत्र भक्तीत्येकोनविंशतिः ॥

—सुबोधिनी टीका

श्रीमद्भागवतमें भक्तके उत्तम, मध्यम और अधम रूप तीन भेद और मिलते हैं तथा उनके लक्षण इस प्रकार हैं:—

उत्तम—

> 'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
> भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ॥'

अथवा—

> "गृहीत्वापीन्द्रियैरर्थान्यो न द्वेष्टि न हृष्यति ।
> विष्णोर्मायामिदं पश्यन् स वै भागवतोत्तमः ॥'

अथवा—

> "न कामकर्मबीजानां यस्य चेतसि संभवः ।
> वासुदेवैकनिलयः स वै भागवतोत्तमः ॥"

अथवा—

> देहेन्द्रियप्राणमनोधियां यो
> जन्माप्ययक्षुद्भयतर्षकृच्छ्रैः ।
> संसारधर्मैरविमुह्यमानः
> स्मृत्या हरेर्भागवतप्रधानः ॥"

—एकादश २ । ४५, ४८ ५, ४९

मध्यम—

"ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ॥"

अधम—

"अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ॥"

—एकादश २ । ४६, ४७

श्रीमद्भगवद्गीतामें भी अर्जुन-प्रति भगवान् उत्तम भक्तकी व्याख्या करते हुए कहते हैं —

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे भक्तः स मे प्रियः ॥
यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥
अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥
यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति ।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥
समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥
ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥

—गीता १२ वाँ अध्याय १३–२

—और आप भक्तोंके लक्षण इस प्रकार कहते हुए उनकी यों प्रशंसा करते हैं —

"कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः ।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः ॥
अप्रमत्तो गभीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः ।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः ॥
आज्ञायैवं गुणान्दोषान्मयादिष्टानपि स्वकान् ।
धर्मान्सन्त्यज्य यः सर्वान्मां भजेत स सत्तमः ॥
ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मां यावान्यश्चास्मि यादृशः ।
भजन्त्यनन्यभावेन ते मे भक्ततमा मताः ॥
श्रीमद्भा० ११ । ११ । २९, ३०, ३१, ३२, ३३

अथवा—

वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं
रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
विलज्ज उद्गायति नृत्यते च
मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ॥
—श्रीमद्भागवत ११ । १४ । २४

अब ज़रा भक्तोंपर ब्रज-भाषा कवि-कोविदोंकी सरस-सूक्तियाँ भी देख लीजिये । यथा—

"ऊधो ऐसो भक्त मोहि भावै ।
सब तजि आस निरंतर मेरे जपत करम-गुन गावै ॥
कथनी कहै निरंतर मेरी सेवा में चित लावै ।
मृदुल-हास अँसुवन-जल-धारा पुलक-गात दरसावै ॥

जहँ-जहँ भक्त चरन निज राखै, तहँ तीरथ चलि आवै।
तहँ की रज को अंग लगावत कोटि-जग्य-फल पावै॥
मेरो मन भक्तन में लिपटे, मेरे हू उर आवै।
बलि-बलि जाउँ श्रीमुखकी बानी "सूरदास" जस गावै॥

—सूरसागर

प्रथम सुनै भागवत भक्त-मुख भगवत-बाँनी।
द्वितीय अराधै भक्ति, व्यास नौ-भाँति बखाँनी॥
तृतीय करै गुरु समुझि दच्छ सरबग्य रसीलै।
चौथें होइ बिरक्त, बसै बनराज जसीलै॥
पाँचें भूलै देह निज छठें भावना रास की।
सातें पावै रीति-रस श्रीस्वामी हरिदास" की॥

—सिद्धान्तपद-मुक्तावली

श्रीव्यासजी कहते हैं—

जो सुख होत भगत-घर आयें।
सो सुख होत नाहिं बहु-संपति बाँझहि बेटा-जायें॥
जो सुख होत भक्त-चरणोदक पीवत गात-अघायें।
सो सुख सपनेहुँ नहिं पैयत कोटिन तीरथ न्हायें॥
जो सुख भक्तन को मुख देखत उपजति दुख बिसरायें।
सो सुख होत न कामिहिं कबहूँ कामिनि उर लपटायें॥
जो सुख कबहुँ न पैयतु पितु-घर, सुत को पूत खिलायें।
सो सुख होत भक्त-बचननि सुनि नैननि नीर-बहायें॥
जो सुख मिलत रहत साधुन सों छिन-छिन रंग बढ़ायें।
सो सुख होत न नेकु "ब्यास' कौं लंक सुमेरहुँ पायें॥

नाग—सर्प, साँप, अहि, पन्नग, उरग—आदि।

"... ... ... 'नागाः' पन्नगेऽपस्तद्गीश्वरा' ।"

बाँबी—साँपके रहनेका स्थान, बिल, छिद्र ।

मधु, नाग और बाँबी-शब्दके सरस प्रयोग ।

"मैन मधुकर के मधु" हमारे ।"

—सूरदास

"नाग" नाथ प्रभु बाहर आए, फँन-फँन निरत करे ।"

—मीराबाई

मानौं निकसि बाँबि-"बाँबीन" तें नागिन करति किलोल ॥

—गंगाबाई

श्रीनन्ददासजीकी उक्त सरस-सूक्तिके साथ-साथ श्रीसूरकी भी इसी भावपर सुन्दर रचना देखने लायक है । जैसे—

अपने सगुन-गुपालै माई! इहि बिधि काहै देति ।
ऊधौ की इन मीठी-बातनि निरगुन कैसें लेति ॥
धरम अरथ कामना सुनावत सब सुख मुक्ति समेति ।
काकी भूँख गई मन-लडुवनि सो देखौ चित-चेति ॥
जाकौं मोच्छ बिचारत बरनत निगम कहत हैं नेति ।
"सूर" स्याम तजि को भुस-फटकै मधुप तिहारे हेति ॥

जोगी होइ सो जोग-बखानैं । नौधा-भगति, दास-रति मानैं ॥
भजनानंद अमी हम प्यारी । ब्रह्मानंद-सुख कौन बिचारी ॥
बतियाँ रचि-पचि कहत सयानी । अँखियाँ हरि के रूप-लुभानी ॥
व्यापारि-बिना न कछू पावैं । बिन-नैनैं कैसें रति मानैं ॥
पुनि-पुनि पुनि वोही सुधि आवै । कृष्ण-रूप बिनु और न भावै ॥
नव-किसोर जिहिँ नैन-निहारयौ । कोटि-जोग ता छबि पै वारयौ ॥
सीस मुकुट कुंडल चमचमता । कहाँ बिसरैं वे नैन-बिसाला ॥
मृगमद मलय अलक घुँघरारे । तन मोहन मन हरे हमारे ॥
भृकुटी कुटिल नासिका राजै । अधर-अरुन मुरली कल-बाजै ॥

दाड़िम-दसन दामिनि-दुति सोहै । मृदु-मुसिकानि मुनि जन-मन-मोहै ॥
चंद्र-कुंडल श्रवन मनि-जोती । दूरि करत उडु-गन की जोती ॥
कंकन, किंकिनि पदक बिराजै । गज-गति-चाल नूपुर-धुनि बाजै ॥
पग के पानु चित्त तन किये । श्रीवत्स-चिन्ह, राजत अति हियें ॥
पीत-बसन-छबि बरनि न जाई । नख-सिख सुंदर कुँवर-कन्हाई ॥
रूप-रासि ब्रजजन के संगी । कब देखें यह अखिल-त्रिभंगी ॥
जो तू हित की बात बतावै । मनमथ-गुनगाथा क्यों न सिखावै ॥

अथवा—

"अँखियाँ रहीं अपनी ओर ।
चंद-मंडल चकत जैसें अँखियें दर बीर ॥
चकत चितवत दिवस जागत सुपन सोवत रात ।
हृदै तें वह स्याम-मूरति छिन न इत-उत जात ॥
स्याम-गात सरोज आनन ललित-गति मृदु-हास ।
'सूर' ऐसे रूप कारन मरत लोचन प्यास ॥

दादूदयालजी कहते हैं—

दादू" प्याला राम का पीवै प्रेम अघाइ ।
मतवाला दीदार का माँगै मुक्ति बलाइ ॥
"दादू" प्याला प्रेम का बिरला पीवै कोइ ।
वेद-पुरान-पुस्तक पढ़ै प्रेम बिना का होइ ॥
प्रीति जो है मो पीव की पैठी पिंजर माँहिं ।
रोम-रोम पिव-पिव करै "दादू" दूसर नाँहिं ॥

सहजोबाई कहती हैं—

जोगी पावै जोग सूँ ज्ञानी लहै बिचार ।
सहजो" पावै भक्ति सूँ जोरा-प्रेम आधार ॥"

अत अथव बादमें बना। इन चारों वेदोंको प्राचीन साहित्यकारोंने साथ मनुने भी "वेदत्रयी" नामसे उल्लेख किया है। ऋग्वेद पद्यमें है, यजुर्वेद गद्यमें तथा "साम" गानेयोग्य गीतोंमें—पद्योंमें हैं। अथर्ववेद जो कि पीछेसे बना इसमें शान्ति तथा पौष्टिक-अभिचार, प्रायश्चित्त-विधियाँ, तन्त्र-मन्त्र आदि विषय हैं। वेद—संहिता, ब्राह्मण और आरण्यक या उपनिषद्‌रूप तीन भागोंमें विभक्त है। संहिता अर्थात् संग्रह। वेदके संहिता-विभागमें स्तोत्र, प्रार्थना, मन्त्र-प्रयोग, आशीर्वादात्मक सूक्तियाँ यज्ञविधिसे सम्बन्ध रखनेवाले मन्त्रादि और अरिष्ट निवारणात्मक प्रार्थनाएँ सम्मिलित हैं। वेदोंका यही विभाग "मन्त्र-भाग" कहलाता है। वेदका ब्राह्मण-विभाग गद्य-मन्त्रात्मक है, जिसमें अनेक देवताओंकी कथाएँ, यज्ञ-सम्बन्धी विचार और भिन्न भिन्न ऋतुओंमें होनेवाले धार्मिक कृत्योंके व्यावहारिक तथा आध्यात्मिक महत्त्वका निरूपण है। वनोंमें रहनेवाले यति और संन्यासी आदि परमेश्वर, जगत् और मनुष्य इन तीनोंके सम्बन्धमें जो-जो विचार विनिमय किया करते थे, वह सब उपनिषदों और आरण्यकोंमें संगृहीत है। इन्हींमें भारतका प्राचीनतम तत्त्वज्ञान भरा पड़ा है। यह विभाग वेदोंका अन्तिम भाग है, इसलिये ही यह वेदान्त कहलाता है। वेदों-का प्रचार बहुत कालसे है, अतः काल-भेद, देश-भेद और व्यक्ति-भेदोंके कारण वेद-मन्त्रोंके उच्चारणमें अनेक पाठ-भेद हो गये हैं। साथ ही पाठोंमें कहीं-कहीं कुछ न्यूनता और अधिकता भी हो गयी है। इन पाठ-भेदोंके कारण "संहिताओं" को जो रूप प्राप्त हुआ है वह "शाखा" कहलाते हैं और इस प्रकार प्रत्येक वेदकी कई शाखाएँ

हो गयी हैं। चारों वेदोंमें चार विद्याएँ निकली हुई कहाते हैं, अतएव जिन ग्रन्थोंमें उक्त विद्याओंका वर्णन हो वे उपवेद कहलाते हैं। प्रत्येक वेदका एक-एक स्वतन्त्र उपवेद है। इसके अतिरिक्त शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द ये छः वेदोंके अङ्ग कहे जाते हैं। जैसे—

> शिक्षाकल्पो व्याकरणं निरुक्तं ज्योतिषां गणः।
> छंदो विचितिरित्येषः षडङ्गो वेद उच्यते॥"
>
> —कल्पसूत्र

वेदोंका स्थान संसारके प्राचीन-से-प्राचीन इतिहासोंमें बहुत उच्च है। इन वेदोंमें हम भारतीयोंकी आरम्भिक आध्यात्मिकता, सामाजिकता और नैतिक-सभ्यताका बड़ा सुन्दर निदर्शन है। वेदोंको भारतीय जनता अपौरुषेय, अर्थात् ईश्वर-कृत मानते हैं और जैसा कि अभी लिखा जा चुका है—ब्रह्माने वेद चारों मुखसे कहे। अतः भिन्न-भिन्न ऋषियोंने जो-जो मन्त्र सुनकर संगृहीत किये वे उनके ऋषि (द्रष्टा) कहलाये जाते हैं। प्रायः सभी साम्प्रदायिक आचार्योंने वेदोंको परम प्रामाण्य माना है। स्मृति और पुराण आदिमें वेद, देवतादिके मार्गदर्शक नित्य अपौरुषेय और अप्रमेय कहा है। ब्राह्मणों और उपनिषदादिमें कहा गया है कि वेद सृष्टिसे भी पहिले उत्पन्न हुए और उनका निर्माण प्रजापतिने किया। पर वेदोंका वर्तमानरूपसे संग्रह-विभाग और संकलन महर्षि व्यासजीने ही किया है, इसलिये आप 'वेद-व्यास' कहलाते हैं। विष्णु और वायु-पुराणमें कहा है—स्वयं विष्णु भगवान्‌ने ही वेद-व्यासजीका रूप धारणकर

वेदके उक्त चार विभाग किये और क्रमशः पैल, वैसम्पायन, जैमिनि और सुमन्त आदि चार ऋषियोंको दिये। जैसे—

"वेदद्रुमस्य मैत्रेय शाखाभेदास्सहस्रशः।
न शक्यो विस्तराद्वक्तुं संक्षेपेण शृणुष्व तम्॥"
द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपी महामुने।
वेदमेकं सुबहुधा कुरुते जगतो हितः॥
वीर्यं तेजो बलं चाल्पं मनुष्याणामवेक्ष्य च।
हिताय सर्वभूतानां वेदभेदान्करोति सः॥
ययासौ कुरुते तन्वा वेदमेकं पृथक् प्रभुः।
वेदव्यासाभिधाना तु सा च मूर्तिर्मधुद्विषः॥

—विष्णुपुराण ३ अंश ३। ४ ५ ६ ७

वेदांतवादी वेदोंको ब्रह्मसे उत्पन्न मानते हैं। जैमिनि और कपिल वेदोंको स्वतः सिद्ध कहते हैं। वेदोंके रचना-काल-विषयमें आधुनिक विद्वानोंमें बड़ा मतभेद है। मैक्समूलर आदि पाश्चात्य विद्वानोंका कथन है कि वेदोंकी रचना ईशासे प्रायः हजार या डेढ़ हजार वर्ष पहिले हुई थी। उस समय ही आर्यजाति पंजाबमें आकर बसी थी, परंतु लोकमान्य बाल गंगाधर 'तिलक'ने ज्योतिष-शास्त्रके साथ अन्य कितने ही आधारोंसे यह प्रमाणित किया है कि वेद, ईशासे साढ़े चार हजार वर्ष पहिले लिखे गये थे। बुहलर आदि विद्वानोंका अभिमत है कि आर्य-सभ्यता ईशासे प्रायः चार हजार वर्षसे भी पहिले थी और वैदिक साहित्यकी रचना ईशासे लगभग तीन हजार वर्ष पहिले हुई। अधिकांश विद्वान् यही अभिमत स्वीकार करते हैं, आदि-आदि।

नेति—जिसकी इति न हो, आदि हो, पर अंत न हो, अंत-रहित, अनंत, बेहद।

नेति—शब्द उपनिषदोंमें ब्रह्म या ईश्वरकी अनन्तता सूचित करनेके लिये आता है।

आतमा—शुद्ध आत्मा, अर्थात् ब्रह्म, जीव, चित्त, बुद्धि, अहंकार, मन, देह, स्वभाव, यत्न और धृति आदि।

'आत्मा यत्नो धृतिर्बुद्धिः स्वभावो ब्रह्मवर्ष्म च।
—अमरकोष ३।४।११२

अथवा—

'आत्मा" कलेवरे यत्ने स्वभावे परमात्मनि।
चित्ते धृतौ च बुद्धौ च परव्यावर्तनेऽपि च॥"
—धरणि

अथवा—

प्रत्यग्रूपः पराग्रूपाद्व्यावृत्तोऽनुभवात्मकः।
प्रपञ्चेषु स आत्मेति' प्राहुरात्मविदो बुधः॥"

आत्मा-शब्दका प्रयोग प्रायः ब्रह्म और जीवके अर्थमें प्रयुक्त होता है, जैसा कि यहाँ अर्थ है। इसका यौगिक अर्थ 'व्याप्त' है। जिस प्रकार ब्रह्म संसारके प्रत्येक अणु और कणकणमें व्याप्त है, उसी प्रकार जीव भी प्रत्येक प्राणीके अंग-अंगमें 'व्याप्त' है। इसलिये 'आत्मा' शब्दका व्यवहार प्राचीन शास्त्रकारोंने दोनोंके लिये किया है। साधारणतः जीव, ब्रह्म और प्रकृति इन तीनोंके लिये, अथवा अनिर्वचनीय पदार्थोंके लिये इस शब्दका व्यवहार करते आये हैं, परन्तु

मुख्यतया इसका प्रयोग जीवके सर्वधर्मे विशेष और ब्रह्म तथा प्रकृतिके अर्थमें गौणरूपसे किया गया है। संसारमें प्रायः दो भेद देखनेमें आते हैं—एक आत्मवादी और दूसरे अनात्मवादी। प्रकृतिसे पृथक् आत्माको पदार्थ-विशेष माननेवाले आत्मवादी और प्रकृति-विकार विशेषको ही आत्मा माननेवाले अनात्मवादी कहलाते हैं। इनके मतमें आत्मा कोई पदार्थ नहीं, अपितु प्रकृतिका विकारमात्र है। अनात्मवादी यूरोपमें विशेष हैं। उनका कहना है—आत्मा, प्रकृति-के भिन्न-भिन्न वैकारिक अंशोंके संयोगसे समुत्पन्न एक शक्ति विशेष है, जो कि प्राणियोंमें गर्भावस्थासे ही उत्पन्न होकर मरणपर्यन्त रहती है और बादको जिन तत्त्वोंके विश्लेषणसे यह उत्पन्न हुई थी उन्हींमें मिलकर नष्ट हो जाती है। बहुत दिन हुए भारतवर्षमें यही बात प्रसिद्ध विद्वान् 'बृहस्पति' ने कही थी जो कि 'चार्वाक' नामसे प्रख्यात था। चार्वाकका कथन है—

"चैतन्यविशिष्टदेह एव आत्मा देहातिरिक्त आत्मनि प्रमाणाभावात्।"

अर्थात्—देहके अतिरिक्त अन्यत्र आत्माके होनेका कोई प्रमाण नहीं है, अतः चैतन्यविशिष्ट देह ही आत्मा है। इस मुख्य-मतके बाद कई और भेद उत्पन्न हो गये और क्रमशः शरीरकी स्थिति तथा ज्ञानकी प्राप्तिमें कारणभूत इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और अहंकारको आत्मा मानने लगे। कोई इसे विज्ञानमात्र, अर्थात् क्षणिक मानने लगा, तो कोई कुछ और ही। वैशेषिक-दर्शन आत्माको एक द्रव्य मानकर लिखता है कि प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष, जीवन, मन, गति-

इन्द्रिय, अंतर्विकार जैसे—भूख-प्यास, ज्वर-पीड़ादि, सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्नादि आत्माके लिंग हैं, अर्थात् जहाँ प्राणादि लिंग या चिह्न दीख पड़ें, वहाँ आत्मा रहती है, लेकिन न्यायकार गौतममुनिने—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दु:ख और ज्ञानादि ही को आत्माका चिह्न माना है। जैसे—

"इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम्।"
—न्यायसूत्र १ । १०

सांख्य-शास्त्रानुसार आत्मा—अकर्ता, साक्षीभूत, असंग और प्रकृतिसे परे (भिन्न) अतीन्द्रिय पदार्थ माना जाता है। योगशास्त्रानुसार आत्मा—वह अतीन्द्रिय-पदार्थ है जिसमें क्लेश, कर्मविपाक और आशय हो। सांख्य और योग ये दोनों ही आत्माके स्थानपर पुरुष शब्दका प्रयोग करते हैं। मीमांसकोंके अनुसार आत्मा कर्मोंका कर्ता और फलोंका भोक्ता स्वतंत्र अतीन्द्रिय-पदार्थ है। पर मीमांसकोंमें प्रभाकर, कुमारिल-भट्ट आत्माको ज्ञानोपहत-चैतन्य मानते हैं। वेदान्तानुसार आत्मा—नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव ब्रह्मका अंशविशेष है। बौद्ध-मतसे आत्मा, अनिर्वचनीय पदार्थ जिसका आदि और अंत-अवस्था न हो माना जाता है। पर उत्तरीय बौद्ध आत्माको एक शून्य पदार्थ मानते हैं। जैनी आत्माको कर्मोंका कर्ता, फलोंका भोक्ता और अपने कर्मोंसे मोक्ष और बंधनको प्राप्त होनेवाला एक अरूपी-पदार्थ मानते हैं।

उपनिषद्—वेदकी शाखा और ब्राह्मणोंका वह अंतिम भाग जिसमें ब्रह्मविद्या, अर्थात् आत्मा और परमात्माका सम्यक् निरूपण

है। वेदान्त-शास्त्र, तत्त्व-ज्ञान, वेदका शिरोभाग, वेद-रहस्य, ब्रह्म-विद्या आदि।

"धर्मे रहस्युपनिषद्" — — त्"

(अमरकोश ३ । ४ । १५)

"ब्रह्म चोपनिषच्छब्दो ब्रह्मविद्यैकगोचरः।
तच्छब्दवाच्यवार्थस्य विद्यायामेव सम्भवात्॥"

अथवा—

'उपोपसर्गः सामीप्ये तत्प्रतीचि समाप्यते।
सामीप्यतारतम्यस्य विश्रान्तिः स्वात्मनि स्थितम्॥"
"त्रिविधस्य सदर्थस्य निशब्दोऽपि विशेषणम्।
उपनीयतमात्मानं ब्रह्मापास्तद्वयं यतः॥'
"निहन्त्यविद्यां तज्जं च तस्मादुपनिषद् भवेत्।
निहत्यानर्थमूलं स्वाविद्यां प्रत्यक्तया परम्॥"
"गमयत्यस्तसम्भेदमतो वोपनिषद् भवेत्।
प्रवृत्तिहेतून्निःशेषांस्तन्मूलोच्छेदकत्वतः ॥"
'यतोऽवसादयेद्विद्या तस्मादुपनिषद् भवेत्।
यथोक्तविद्या हेतुत्वाद्ग्रन्थोऽपि तदभेदतः॥'

—शब्दार्थचिन्तामणिः

वैसे तो—उपनिषदोंकी संख्या अठारह ही मानी जाती है, पर कोई-कोई अठारहके अतिरिक्त चौंतीस, बावन, एक सौ आठ तथा एक हजारसे भी अधिक मानते हैं।

"अष्टाशीतिसहितशताधिकसहस्रसंख्याका उपनिषदश्चतुर्णां वेदानाम्।"

पर प्रधानतः दस ही हैं और उनके नाम ये हैं—ईश या वाजसनेय, केन या तलवकार, कठ, प्रश्न, मुण्डक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य और बृहदारण्यक । इनसे अतिरिक्त उपनिषद् कौषीतकी, मैत्रायणी और श्वेताश्वतर—उपनिषदोंको आर्षप्रणीत मानते हैं तथा एक सौ छ उपनिषद् छपे हुए भी मिलते हैं ।

पुरान—शुद्ध पुराण, अर्थात् प्राचीन आख्यान, पुरानी कथा । भारतीय आर्य जातिके धर्म-सम्बन्धी आख्यान-ग्रंथ, जिनमें सृष्टि, लय, प्राचीन ऋषि-मुनियों और राजाओंके इतिवृत्त होते हैं । अथवा सृष्टि, मनुष्य-देव-दानव, राजा और महात्माओंके वृत्तांत जो परंपरागत चले आते हों । कहते हैं जिसमें यह पाँच लक्षण हों वह पुराण, जैसे—

"सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
वंशानुचरितं चैव पुराणं पञ्चलक्षणम् ॥"

पुरान—अठारह हैं, जैसे—विष्णु, पद्म, ब्रह्म, शिव, भागवत, नारद, मार्कण्डेय, अग्नि, ब्रह्मवैवर्त, लिंग, वाराह, स्कन्द, वामन, कूर्म, मत्स्य, गरुड़, ब्रह्माण्ड और भविष्य, जैसे—

"ब्राह्मं पाद्मं वैष्णवञ्च शैवं भागवतं तथा ।
तथान्यं नारदीयं च मार्कण्डेयं च सप्तमम् ॥
आग्नेयमष्टमं चैव भविष्यन्नवमं स्मृतम् ।
दशमं ब्रह्मवैवर्तं लैंगमेकादशं स्मृतम् ॥
वाराहं द्वादशं चैव स्कान्दं चात्र त्रयोदशम् ।
चतुर्दशं वामनं च कौर्म्मं पञ्चदशं तथा ॥
मत्स्यं च गारुडं चैव ब्रह्माण्डं च ततः परम् ।
महापुराणान्येतानि ह्यष्टादश महामुने ॥"

—विष्णुपुराण ३ । ६ । २१—२४

पर कहीं-कहीं इन नामोंमें मतभेद भी है। कोई श्रीमद्भागवत को महापुराण मानकर उसके बाद वायु-पुराणको मानता है, तो कोई शिव-पुराणके स्थानपर भविष्य-पुराणकी सृष्टि करता है।

हरि, वेद, नेति, आतमा, उपनिषद् और पुरान-आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"'हरि' तेरी माया को न बिगोयी।"

—सूरदास

"'वेद' रटत ब्रह्मा रटत शम्भु, शुक, व्यास रटत ... ।"

—[illegible]

"अविगत-गवन समुझिये आई पायो 'नेति-नेति' न बैन।"

—हरिराय

" 'आतमा' बसत आदि देह की बिहार है।"

—सुन्दरदास

मोहि सुहात बेद "उपनिषद्" बातनि करत के भेद।

—नन्ददास

ब्रह्म मैं ढूँढ्यौ "पुराननि" बेदनि भेद सुन्यौ चित-चौगुने चायन।

—रसखान

गोपी-वचन

२०

बीज—फलवाले वृक्षोंका गर्भांड जिससे वृक्ष अंकुरित होकर उत्पन्न होता है। यह गर्भांड एक छिलकेके भीतर बन्द रहता है, और इसीमें अव्यक्तरूपसे भावी वृक्षका भ्रूण रहता है। जब यह गर्भांडको उपयुक्त जल वायु और स्थान मिलता है तब यह भ्रूण जिसमें अंकुर अव्यक्त रहता है प्रस्फुट होकर बढ़ता है और अंकुररूपमें

परिणत हो जाता है। यही अंकुर समयानुसार बढ़कर वैसा ही पेड़ हो जाता जैसे पेड़के गर्भाङ्कसे वह स्वयं निकला था। आदि-आदि

तरु—वृक्ष, द्रुम, पेड़, गाछ आदि

'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपः—'' तरु

—अमरकोष २।४।५

माया—ईश्वरकी वह शक्ति जिसके द्वारा सब कार्य होता है। सृष्टिकी उत्पत्तिका मुख्य कारण। अविद्या, अज्ञानता, भ्रम आदि।

वेदान्तवादियोंका कथन है कि माया ऐसी वस्तु है जो न सत् है, न असत् है, वरन् अनिर्वचनीय है और उसमें सत्व, रज और तम तीनों गुण हैं तथा ज्ञानकी विरोधिनी है और केवल भाव रूप है। आगे चलकर कहते हैं कि जबतक मायाजनित उक्त तीनों गुण एकसे, अर्थात् साम्यावस्थामें रहते हैं तबतक जगत्की उत्पत्ति नहीं होती। जब इसमें तमोगुणकी अधिकता होती है तब इसमें एक प्रकार क्षोभ उत्पन्न होता है, जिसके परिणामस्वरूप जगत्की उत्पत्ति होती है।

मायामें दो शक्तियाँ हैं, एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। आवरण-शक्तिसे वस्तुका यथार्थ रूप ढक जाता है और विक्षेप-शक्तिसे मिथ्या कल्पना हो जाती है। बादल सूर्यके सामने आ जानेपर सूर्यको दृष्टिसे छिपा लेता है, इसी तरह आवरण-शक्तिद्वारा आच्छिन्न होनेपर—आच्छादित होनेपर आत्मा भी दिखलायी नहीं पड़ती। अँधेरेमें सूखे ठूँठको देखनेपर भूतकी कल्पना हो जाती

है, उसी तरह विक्षेप-शक्ति भी आत्मापर मिथ्या-जगत्‌की कल्पना कर देती है। कोई मनुष्य अँधेरे मकानमें जाय और वहाँ रस्सीके टुकड़ेको पड़ा देख सर्प मानकर डर जाय तथा फिर बाहर आकर दिया ले आनेपर उसके प्रकाशसे उसे ज्ञात हो कि जिस रस्सीके टुकड़ेको मैं सर्प समझकर डर रहा था वह वास्तवमें रस्सीका ही टुकड़ा है, सर्प नहीं। यहाँ रस्सीका असली रूप न दिखलायी पड़ना एक बात है और रस्सीपर सर्पकी कल्पना दूसरी बात तथा प्रकाशसे उसका असली रूप ज्ञात होना तीसरी बात है। यहाँ पहिलीका कारण आवरण शक्ति है, दूसरीका विक्षेप-शक्ति और तीसरीका कारण वह वेदान्तिक ज्ञान-भ्रम है जो कि माया, अर्थात् अविद्याको मोहक, भ्रमक और आलसक कारण समझता है। माया, अपनी इन आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा आत्माको छिपाकर उसपर मिथ्या-जगत्‌की कल्पना कर देती है, अतः जगत् वास्तवमें सत्य नहीं, अपितु मायाका विकार है, पर रखता है व्यावहारिक सत्ता।

मायाजनित जगत्‌की उत्पत्तिके विषयमें वेदान्तियोंका कहना है—मायाका पहिला स्वरूप कारण शरीर है, अर्थात् अज्ञानिक माया है, वह सब जगके सत्त्व-गुण प्रधानात्मक अल्प अंशसे मिली हुई है और शरीर संसारभरकी अखिल वस्तुओंका भंडार, अतएव इस माया पुंज-शरीरके साथ जो आत्मा वह अपरा भाग भिन्न है, वह ईश्वर अनुरूप ही है—ईश्वर ही है। यह सत्त्व-गुणवेष्टित ईश्वर सर्वज्ञ, सर्व-शक्तिमान् और सबका नियन्ता कहलाता है। शरीर भी सत्त्व-गुणप्रधान है, इसलिये इसे आनंदसे परिपूर्ण मानते हुए आनंदमय-

कोश भी कहते हैं। शरीरकी अवस्था सुषुप्ति है, यह सुषुप्ति-अवस्था ही स्थूल और सूक्ष्म-शरीरोंका लय-स्थान है, कारण शरीर इनके परे है। जगत्‌भरका कारण, शरीर होनेसे प्रत्येकका अर्थपर मनुष्यादि का कारण शरीर होना ही चाहिये। अतः इस कारण शरीरका चैतन्यतत्त्वके साथ जो सम्बन्ध है, वह चैतन्यतत्त्व ईश्वरका ही एक भाग है जो कि 'प्राज्ञ' कहलाता है और मायाकी मलिन-उपाधिद्वारा अल्पज्ञ और अनीश्वर भी। अस्तु, इस शरीरके ही कारण अपनपेकी कमनीय कल्पना होती है, जैसे—सम्पूर्ण जगत्का कारण शरीर आनन्दमय कोश कहलाता है उसी तरह जीवका यह अल्पांश चैतन्यतत्त्व भी आनन्दमय कोश कहलाता है। इसकी भी अवस्था सुषुप्ति है और जीवके सूक्ष्म और स्थूल शरीरका लय-स्थान भी यही है। अतः समस्त जगत्का कारण शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण शरीर सच्चे एकत्वके अनुसार पृथक्-पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ही है। पृथक्-पृथक् भान होना तो दृष्टि विकारका फल है। जैसे वन और वृक्ष, जलाशय और जल, पृथक्-पृथक् वस्तुएँ नहीं, बल्कि एक ही हैं; इसी प्रकार संसारका कारण-शरीर और किसी व्यक्ति-विशेषका कारण-शरीर भी पृथक्-पृथक् नहीं हैं। जब वृक्षोंको पृथक्-पृथक् देखा जाय तब तो वे सब पृथक्-पृथक् वृक्ष हैं और जब उन्हें समुदायरूपसे देखा जाय तो वे वन हैं। यही समष्टि और व्यष्टिका कहलाना है। किसी समुदायरूपको समुदायरूपपनेसे कहनेपर वह समष्टि और उसका पृथक्-पृथक् वर्णन करनेसे—भिन्न-भिन्न अंशोंका निरूपण करनेसे व्यष्टिरूप कहलाता है। सम्पूर्ण माया-पुंजका अंश-अंश चैतन्यरूपसे भिन्न हुआ देखा

जाय तो समष्टि कहलायेगा। और जब प्रत्येक शरीरके उक्त चैतन्य-से पृथक्-पृथक् रूपमें देखा जाय तब व्यष्टि कहलायेगा। ईश्वर और प्राज्ञ एक ही हैं। ईश्वर समष्टिरूप है और प्राज्ञ व्यष्टिरूप। वन और वृक्षोंमें सम्पूर्ण आकाश व्याप्त नहीं होता, उससे पृथक् कुछ-न कुछ विशेष बचा ही रहता है। इसी तरह सब माया-पुंजमें वह ब्रह्म सम्पूर्ण रूपसे व्याप्त नहीं होता, बहुत कुछ बाहर रह जाता है, उसका कुछ ही अंश मायासे मिला हुआ रहता है। अतः वह अविशेष-रूप तुरीय या तुर्य कहलाता है। तुर्य या तुरीय अज्ञानत्वसे प्राप्त चेतनतत्त्वका आधार। मायाजनित जगत्की उत्पत्तिका इससे यही कारण है। मकड़ीके जालेकी उत्पत्ति मकड़ीसे है। मकड़ी जालेके निमित्त और उपादान रूप दोनों कारणोंसे युक्त है—बनती हुई है। जालेके तन्तुओंको बनाते समय वह निमित्त-कारण है और उसके शरीरसे तंतुओंका पैदा होना उपादान-कारण है। ऐसे ही वह अज्ञान युक्त चैतन्य अपनी प्रधानतासे आवरण और विक्षेप-शक्तियोंद्वारा जगत्का निमित्त-कारण है तथा अपनी उपाधियोंसे उपादान-कारण आदि-आदि।

दरपन—मुकुर, दर्पण, अर्थात् आइना, मुकुर, मुख देखनेका शीशाविशेष, जैसे—

> "दर्पणे"मुकुरादर्शौ"   "   ।"
>
> —अमरकोश २ । ६ । ४१

अमल—मलरहित, अर्थात् स्वच्छ, निर्मल, निर्दोष।

बारि—शुद्ध वारि, अर्थात् जल, पानी, सलिल, आप

'आपः स्त्री भूम्नि वार्— "वारि" सलिलं कमलं जलम् ।"

—अमरकोश १ । १ । १

कीच—कीचड़, पंक, कर्दम ।

बीच, तक, माया, दरपण, कमल, वारि और कीच आदि शब्दोंके सरस-प्रयोग ।

"मन-" बीच" रूना में बोरै ।

—दादूदयाल

"तक-तरु" तारे कौम सुर्खीम ।"

—गोविंद स्वामी

"माया" नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै ।"

—सूरदास

"मुखड़ा क्या देखै "दरपन" में ।"

—कबीरदास

"पुंज-पुंज रोंह मराल-मालिकी रमत
रानी-"कमल" सरस-सरस करत केलि ।

—कृष्णदास

"चहुँवा अपने मुखहिं न चाखत, क्यों-मीठो "वारि"खारो है ।"

—गंगाबाई

"माया-"कीच" फस्यो मन मेरो ।

—मलूकदास

श्रीसूरने भी नन्ददासजीकी तरह श्रीउद्धवके बहुत निर्गुन-निर्गुन रटनेपर एक करारी फटकार बतलायी है, जैसे—

ऊधो ! है हृ हरि के हित कौ ।
हम निर्गुन तबही तें जान्यौं गुन मेट्यौ जब चित कौ ॥
समुझौ नेकु सबन है सुमिरौ, प्रगट बतावौ मित कौ ।
रूप-रेखपदमाहुँ क्यौं निकसी बिनु गुन बहुतै बित कौ ॥

सूरदास कौ सब हीं सूधौ लोभ मधुप के मित कौं ।
हम तौ कबहुँ "सूर" सुधि कर-कर, कौन बतावै हित कौ ॥
—सूरसागर

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकरने भी श्रीउद्धवके बार-बार ब्रह्म-ब्रह्म चिल्लानेपर गोपियोंद्वारा कुछ ऐसी ही मीठी फटकार दिलवायी थी, यथा—

"कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप
धारे प्रन फेरन की मति ब्रजबारी की ।
कहै "रतनाकर" पै प्रीति-रीति जानत ना
ठानत अनीति आनि रीति लै अनारी की ॥
मान्यौ हम कान्ह ब्रह्म एक ही कह्यौ जो तुम—
तौहू हमैं भावति ना भावना अन्यारी की ।
जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की
बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की ॥

अथवा—

"जग सपनौं सौ सब परत दिखाई तुम्हें
तातें तुम ऊधौ ! हमैं सोवत लखात हौ ।
कहै "रतनाकर" सुनैं को बात सोवत की
जोई मुँह आवत सो बिबस बयात हौ ॥
सोवत मैं जागत लखत अपने कौं जिमि,
त्यौंही तुम आपुहीं सुज्ञानी समुझात हौ ।
जोग-जोग कबहूँ न जानैं कहा जोहि जकौ
ब्रह्म-ब्रह्म कबहूँ बहकि बररात हौ ॥"

उद्धव-वचन

२१

सोंचौ—सिखाओ । भेद—रहस्य, छिपा हुआ हाल, गुप्त-तत्त्व आदि । पढ़त—पढ़ते हैं ।

साँसों, भेद और बदलके सुन्दर प्रयोग, यथा—

"प्रीति-रीति सों मोहन "साँसी" बिसरी सब मन भाई।"
—चौधरी सखी

"सुर-ताल श्रुति-ग्राम मूर्छना-'भेद' सब—
जानी सों कहि जाती गुणीजन मौन।"
—तानसेन

"सूरदास" अर्थात "बदल" प, ह क्यों मधुर बैरे।
—सूरसागर

गोपी-वचन

२२

साँस—मुखसे निकलनेवाली हवा। *निसरे*—निकले, बाहर आये। *क्रिया*—किसी प्रकार व्यापार, व्यवहार, कृत्य, उपाय, विधि, प्रयत्न, चेष्टा, अनुष्ठान, प्रायश्चित्तादि कर्म।

बिसेषि—खूब विशेष, अर्थात् मुख्य, प्रधान, अधिक।

विशेष शब्दके और भी अर्थ होते हैं जैसे—भेद, अन्तर, फरक, तरह, ढंग आदि। कणादने—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, "विशेष", समवाय और अभावरूप सात पदार्थ मानकर "विशेष"को अधिक महत्त्व दिया है, क्योंकि विशेष वे गुण हैं जिनके कारण कोई एक पदार्थ शेष दूसरे पदार्थोंसे भिन्न समझा जाता है। दो वस्तुओंमें रूप, रस, गन्धका जो अन्तर होता है वह इसी विशेष-गुणके कारण होता है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, स्नेह, द्रवत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार और शब्द ये वैशेषिक-गुण या विशेष गुण कहलाते हैं। कणादके दर्शनमें

इन्हीं विशेष-पदार्थों या गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये यह "वैशेषिक-दर्शन" नामसे कहा जाता है।

साँस, निसरे, किया और विसेखि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"साँस"—आँखमें रमि रह्यौ मोहन नंदकिसोर।"

—नागरीदास

"जो हारें है "निसरे" मोहन, जातु चले ही ओर।

—गुपाल-नायक

"करि-करि "किया" न भरे पचि मूरख—
तोहू न पावत अंत।"

—सुन्दरदास

"प्रेम तें भाजि न जीव विसेखि।" —प्रेमसखी

यही बात श्रुतियाँ भी कहती हैं—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥"

—पुरुषसूक्त

अथवा—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो—
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः।

—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥"

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

"ऊधौ परत कही न जाइ।
तुम न जानत प्रेम-पथ हम कहत हिय-सकुचाइ॥
कहा जानत सनेह की बिन, डर न जानत और।
बेद-स्मृति-उपनिषद कों लिय रहौ जौहिय ठौर॥
नैन ही मैं जात जाकी सुनत बोलत-बैन।
लोक 'नागर' तुम न जानत कहि न आवत बैन॥"

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"पियारो, पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम-कुल-नेम में॥
नहिं भारत में नहिं रामायन नहिं मनु में नहिं बेद में।
नहिं झगरे में नाहिं जुगति में नाहिं मतन के भेद में॥
नहिं मंदिर में नहिं पूजा में नहिं घंटा की घोर में।
'हरीचंद' वो बँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में॥"

—जैनकुतूहल

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

"अकथ-कथा इन नैन सों बिहरत न पैसी जाइ।
प्रेम-जोति वा की प्रगट सब-ही-ठौर दिखाइ॥"

—रसिक-हजारा

इन्हीं विशेष-पदार्थों का गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये यह "वैशेषिक-दर्शन" नामसे कहा जाता है।

साँस, निसरे, किया और विसेषि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"साँस"—साँसमें रमि रही मोहन नंदकिशोर।

—नागरीदास

जो हारे हैं "निसरे" मोहन, चतुर भये ही चोर।

—गुपाल-नायक

"करि-करि किया" न मरे पचि मूरख—

तोहू न पावत अंत।"

—सुन्दरदास

"प्रेम तें वाहिन और विसेषि।" —प्रेमघनी

यही बात श्रुतियों भी कहती हैं—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥'

—पुरुषसूक्त

अथवा—

अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो—
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥

—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०

'स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निःश्वसितानि।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥"

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

"ऊधौ करना करी न जाइ।
तुम न जानत प्रेम-पथ हम कहत किन समुझाइ॥
कथा कहत सनेह की बिन उर न आवत और।
वेद-स्मृति-उपनिषद् को बिन रही बाँहिन छोर॥
प्रेम ही में रहत हमरी सुखद खोटा-खोंब।
सोच 'नागर' तुम न बोलिय कहि न आवत बैन॥"

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"पियारो पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम-कुल-नेम में॥
नाहिं भारत में नाहिं रमायन, नाहिं मनु में नाहिं बेद में।
नाहिं झगरे में नाहिं युक्ति में नाहिं मतन के भेद में॥
नाहिं मंदिर में नाहिं पूजा में नाहिं घंटा की घोर में।
"हरीचंद" वो बँध्यो डोलत, एक प्रीति की डोर में॥"

—प्रेमफुलवारी

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

"अलख-लखन दृग पलन सों, निरत न देखी जाइ।
प्रेम-कीर्ति या की प्रगट, मन-ही-मीन दिखाइ॥"

—रतन-हजारा

इन्हीं विशेष-पदार्थों या गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये यह "वैशेषिक-दर्शन" नामसे कहा जाता है।

साँस, निसरे, किया और बिसेषि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"साँसन-साँसनमें रमि रह्यो मोहन नंदकिसोर।"
—नागरीदास

"जो हारे हैं बिसरे" मोहन, ... ही ओर।
—गुपाल-नायक

"करि-करि क्रिया न मरे पचि मूरख—
तोहू न पावत अंत।"
—सूरदास

"प्रेम तें ... बिसेषि।"
—प्रेमसखी

यही बात श्रुतियाँ भी कहती हैं—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥"
—पुरुषसूक्त

अथवा—

"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो—
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥"
—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०

"स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।"
—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

"ऊधो बाचा कही न जाइ।
तुम न जानत प्रेम-पथ हम कहत बिन-सकुचाइ॥
क्यों बतावत सनेह की बिधि उर न आवत और।
वेद-स्मृति-उपनिषद कों बिधि रही भौंहिन छोर॥
मौन ही में कहत ताकी सुनत श्रोता-नैन।
सोच "नागर" तुम न जानत कहि न आवत बैन॥

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"पियोरी पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम-कुल-नेम में॥
नहिं भारत में नहिं रामायन, नहिं मनु में नहिं बेद में।
नहिं झगरे में नाहिं जुगति में नाहिं मतन के भेद में॥
नहिं मंदिरमें नहिं पूजा में नहिं घंटा की घोर में।
"हरीचंद" वो बँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में॥"

—प्रेमफुलवारी

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

"नयन-स्रवन इन दृगन सों बिरह न देखी जाइ।
प्रेम-ज्योति या की प्रगट सब-ही-ठौर दिखाइ॥"

—रसिक-रतन

इन्हीं विशेष-पदार्थों या गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये यह "वैशेषिक-दर्शन" नामसे कहा जाता है।

साँस, निसरे, खिया और बिसेखि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"साँस"-साँसमें रमि रही मोहन नंदकिसोर।"
—नागरीदास

"जो हारे है 'निसरे' मोहन आजु भले ही भोर।"
—गुपाल-नायक

"फिरि-फिरि 'खिया' न मरे पथि सूरज—
तोहू न पावत अंत।"
—[illegible]

"प्रेम तें न्यारिन भीव बिसेखि।" —प्रेमसखी

यही बात श्रुतियाँ भी कहती हैं—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥"
—पुरुषसूक्त

अथवा—

"अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो—
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥"
—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०

स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।
—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

"हरि ब्यापक सर्बत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥"

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

"कछू बरनत बनी न जाइ।
तुम न जानत प्रेम-पथ हम रहत जिय-सकुचाइ॥
कथा अकथ सनेह की जिन उर न आवत और।
वेद-स्मृति-उपनिषद् जौं लिख रही नेतिहि ओर॥
मौन ही मैं बहत लागी सुनत श्रोता-नैन।
सोच "नागर" तुम न जानत कहि न आवत बैन॥"

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

"पियारे, पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ज्ञान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम-कुल-नेम में॥
नहिं भारत में नहिं रामायन, नहिं मनु में नहिं बेद में।
नहिं झगरे में नाहिं युगति में नाहिं मतन के भेद में॥
नहिं मंदिरमें नहिं पूजा में नाहिं घंट की घोर में।
"हरीचंद" वह बाँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में॥"

—प्रेमतरङ्ग

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

"लटक-चटक दृग लगन सौं बिरह न देखी जाइ।
प्रेम-कसौटि या की प्रगट, सब-ही-ठौर दिखाइ॥"

—रसिक-हजारा

इन्हीं विशेष-पदार्थों वा गुणोंका विवेचन किया गया है, इसलिये यह "वैशेषिक-दर्शन" नामसे कहा जाता है।

साँस, निसरे, किया और विसेखि—आदि सरस-शब्दोंके सुन्दर प्रयोग।

"साँस"-साँसमें रमि रह्यौ मोहन नंदकिसोर।"

—नागरीदास

सो हारे है "निसरे" मोहन आह भरे ही ओर।"

—गुपाल-नाटक

"करि-करि 'किया' न मरे पथि सूरत—
सौहू न पावत अंत।"

—कठजनदास

"प्रेम तें भाषिन बीच 'विसेखि'।" —प्रेमलता

यही बात श्रुतियों भी कहती हैं—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥"

—पुरुषसूक्त

अथवा—

'अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतदृग्वेदो—
यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः॥"

—बृहदारण्यकोपनिषद् २।४।१०

"स यथाऽऽर्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानीष्टं हुतमाशितं पायितमयं च लोकः परश्च लोकः सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि निश्वसितानि।"

—बृहदारण्यकोपनिषद् ४।५।११

श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

“हरि व्यापक सर्वत्र समाना।
प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना॥

—अयोध्याकाण्ड

श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

“जाकी पहचान कही न जाइ।
तुम न जानत प्रेम-पथ हम जानत नित-रसुनाइ॥
कथा जनक सनेह की जिन उर न जानत पीर।
वेद-स्मृति-उपनिषद कों जिन रही बाँधिन ठौर॥
मौन ही में जनत जाकी सुकत खोलत-बैन।
सोच “नागर” तुम न जानत कहि न जानत बैन॥”

—नागरसमुच्चय

भारतेन्दु बाबू श्रीहरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

“पिय प्यारो, पैये केवल प्रेम में।
नाहिं ग्यान में नाहिं ध्यान में नाहिं करम-कुल-नेम में॥
नहिं भारत में नहिं रामायन, नहिं मनु में नहिं वेद में।
नहिं झगरे में नाहिं जुगति में नाहिं मतन के भेद में॥
नहिं मंदिरमें नहिं पूजा में नहिं घंटा की घोर में।
“हरीचंद” वो बँध्यो डोलत एक प्रीति की डोर में॥”

—प्रेमफुलवारी

श्रीरसनिधिजी कहते हैं—

“जगत-जाल इन नैन सों निरखत न कैसी जाइ।
प्रेम-जोति वा की प्रगट, सब-ही-ठौर दिखाइ॥”

—रतन-हजारा

उद्धव-वचन

२१

दृष्टि—देखना, अवलोकन, निरीक्षण, बुद्धि, विवेक, विचार, नजर, निगाह आदि ।

"दृष्टि'र्नेत्रेऽपि दर्शने ।"

—अमरकोष १ । ४ । ४१

अथवा—

"वस्तुर्वन्यसमोवृत्तिविधिमुक्तारूपमासित्व ।

"दृष्टि' रित्युच्यते यथा दृष्टेः करोति लौकिके' १"

तरनि—सूर्य तरणि, अर्थात् सूर्य, रवि, भानु, दिवाकर

"द्युमणि' स्तरणि"र्मित्रश्चित्रभानुर्विरोचनः ।"

—अमरकोष १ । ३ । ११

चंद्र—चंद्रमा, चाँद, चंद, सुधांशु, विधु, निशापति आदि ।

'हिमांशुश्चन्द्रमा 'चन्द्र' इन्दुःकुमुदबान्धवः ।"

—अमरकोष १ । ३ । १५

कहते हैं—चाँद या चंद्रमा आकाशमें चमकनेवाला एक उपग्रह है, जो कि एक महीनेमें पृथ्वीकी प्रदक्षिणा एक बार करता है और सूर्यसे प्रकाश पाकर चमकता है । चंद्रमा पृथ्वीके अन्य नक्षत्रोंकी अपेक्षा निकट है । यह पृथ्वीसे २२८८०० मीलकी दूरीपर है, और इसका व्यास है २१६२ मील तथा इसे पृथ्वीके चारों ओर

---

१ यहाँ 'दृष्टि' का वस्तुके साथ सम्बन्ध जोड़नेपर ही अर्थकी संगति बैठेगी । वस्तु-दृष्टि, अर्थात् प्रत्यक्ष चीज, देखी हुई वस्तु आदि ।

घूमनेमें सत्ताईस दिन, सात घंटे तैंतालीस मिनट और साढ़े ग्यारह सेकेंड लगते हैं, लेकिन व्यवहारमें जो महीना आता है वह उन्तीस दिन बारह घंटे चौवालीस मिनट और सत्ताईस सेकेंडका होता है। चन्द्रमाके परिक्रमणकी गतिमें सूर्यकी क्रियासे विशेष अन्तर पड़ता रहता है। जब वह अपने अक्षपर महीनेमें एक बारके हिसाबसे घूमता है तब प्रायः उसका एक ही पार्श्व पृथ्वीकी तरफ रहता है। इस विलक्षणताको देखकर ही कुछ लोगोंको यह भ्रम हुआ था कि यह अक्षपर नहीं घूमता। चन्द्र-मण्डलमें बहुत धब्बे दिखायी देते हैं, जिसे पुराणानुसार कलंक, पृथ्वीकी छाया, काला दाग, हिरन आदि कहते हैं। यूरोपीय विद्वानोंका इन धब्बोंके विषयमें कथन है—ये धब्बे नहीं, अपितु पर्वत, घाटी, गर्त और ज्वालामुखी पर्वत आदि हैं। चन्द्रमामें वायु-मण्डल नहीं जान पड़ता और न बादल या जलहीके कोई चिह्न दिखायी पड़ते हैं। उसमें गरमी भी कम दिखायी देती है। प्राचीन भारतीय ज्योतिषियोंके अभिमतसे चन्द्र एक ग्रह है। भास्कराचार्य कहते हैं—यह जलमय है और उसमें निजका तेज नहीं है। उसका जितना भाग सूर्यके सामने पड़ता है, बस उतना ही दिखायी पड़ता है और वही चमकता है। जिस दिन चन्द्रका निचला भाग जो कि हमलोगोंकी, अर्थात् पृथ्वीकी ओर रहता है, उसपर सूर्यका प्रकाश न पड़नेसे अँधेरा होनेके कारण अमावास्याका दिन माना जाता है। ऐसा तभी होता है जब कि सूर्य और चन्द्र एक ही राशिपर यानी सम-सूत्रमें होते हैं। यह सूर्यकी सीधसे—सम-सूत्रपातसे बहुत शीघ्र पूर्वकी ओर हट जाता है जिससे उसकी

एक-एक कला क्रमशः प्रकाशित होने लगती है। यह जितना ही इस सीधसे हटता जायगा उतना ही उसका अधिक भाग प्रकाशित होता जायगा। द्वितीयाके दिन चन्द्रके पश्चिमांशपर सूर्यका जितना प्रकाश पड़ता है उसका उतना ही भाग प्रकाशित दिखलायी पड़ता है। सूर्य-सिद्धान्तानुसार चन्द्रमा जब सूर्यकी सीधसे छठी राशिपर चला जाता है तब उसका समग्र आधा भाग प्रकाशित हो जाता है और हमें पूर्णिमाका पूरा चाँद दिखलायी पड़ने लगता है। पूर्णिमाके अनंतर ज्यों-ज्यों वह बढ़ता जाता है त्यों-त्यों ही उसका अंतर सूर्यकी सीधसे कम होता जाता है, अर्थात् वह सूर्यकी सीधके ओर आता जाता है और उसका सूर्यकी सीधमें आनेके कारण प्रकाशित भाग क्रमशः अन्धकारमें पड़ता जाता है। अनुपातके मतानुसार उक्त प्रकाशित और अप्रकाशित भागोंके इस ह्रास और वृद्धिका हिसाब जाना जा सकता है। यही मत आर्य-भट्ट, श्रीपति, ज्ञानराज, लल्ल और ब्रह्मगुप्त आदि प्राचीन ज्योतिषियोंका भी है। चन्द्रमाके धब्बोंके प्रति इन महानुभावोंने कुछ नहीं कहा, यहाँतक कि सूर्य-सिद्धान्त, सिद्धान्त-शिरोमणि और बृहत्संहिता आदि भी इन धब्बोंके प्रति चुप हैं।

पुराणानुसार चन्द्र समुद्र-मन्थन-द्वारा निकले हुए प्रसिद्ध चौदह रत्नोंमेंसे एक रत्न हैं और उसकी गिनती देवताओंमें की जाती है। चन्द्रग्रहणके प्रति पुराणोक्त कथन है—समुद्र-मन्थनके अन्तमें जब अमृत निकला तब राक्षस-गण उसे छीन ले गया, तदुपरान्त विष्णु-भगवान्‌ने मोहिनी स्वरूप-द्वारा राक्षसोंसे उसे पुनः लाकर समझौतेके

साथ पहिले देवताओंको अमृत पिलाने लगे। अस्तु, चंद्रमाके पास बैठकर और देवताओं-जैसा वेश बनाकर एक राक्षसने चन्द्रमाके साथ अमृत पी लिया। यह वृत्तान्त चन्द्रमाको किसी प्रकार मालूम हो गया कि यह देवता नहीं अपितु राक्षस है—असुर है और उसने अमृत पिलाते हुए मोहिनी-स्वरूपसे यह भेद प्रकट कर दिया। मोहिनी-स्वरूप विष्णु भगवान्‌ने सुदर्शन चक्र (एक हथियार-विशेष) से उस असुरके दो खण्ड कर दिये जो कि राहु और केतुके रूपमें परिणत हो गये। इस वैर-विरोधके कारण ही राहु ग्रहणके समय चन्द्रमाको ग्रसा करता है और उदर—पेट न होनेके कारण उसे हजम नहीं कर पाता और वह (चन्द्र) बाहर निकल आता है। चन्द्र-धब्बोंके प्रति जैसा कि पूर्वमें कहा गया है विभिन्न मत हैं। कोई इसे दक्षप्रजापति-द्वारा पाये गये यक्ष्मा-रूप शापको शांति-निमित्त गोदमें लिया हुआ हिरन बताते हैं, तो कोइ इसे गुरुपत्नीगमनके कारण गुरु बृहस्पति-द्वारा दिये गये शापका फलस्वरूप काला दाग बतलाते हैं और कोई इसे अहिल्याके सतीत्व-भंग करनेवाले देवराज इन्द्रके सतीत्व-भंगमें सहायता देनेपर क्रोधावेशमें गौतम ऋषिद्वारा मारे गये कमंडल और मृग चर्मका दाग बतलाते हैं। इससे इसके नामोंमें भी वृद्धि हो गयी, जैसे—मृगलांछन, रोहिणी-पति हरिणांक, दोषाकर आदि-आदि।

चन्द्र, कवियोंकी भी बहुत उड़ानोंका, चित्त चुरानेवाला चौगान रहा है। संस्कृतसे लेकर तमाम भाषाओंके कवि-कोविदोंने चन्द्र पर, उसके धब्बोंपर, इन निरंकुशों (कवि) ने बड़े-बड़े कुनमा

बाँधे हैं, जमीन-आसमान एक कर दिया है—तूफान बर्पा कर दिया है। उपमा-उत्प्रेक्षादि अलंकारोंसे अलंकृत भिन्न-भिन्न भाषाओंमें वह मजमून मिलाये हैं कि कुछ कहा नहीं जाता, जैसे—

"ततः कुमुदनाथेन कामिनीगण्डपाण्डुना।
नेत्रानन्देन चन्द्रेण माहेन्द्री दिगलंकृता॥"
पिनष्टीव तरंगाग्रैः समुद्रः फेनचन्दनम्।
तदादाय करैरिन्दुर्लिम्पतीव दिगंगनाः॥"
मध्याह्नव्यापीसितपुण्डरीक
घ्राणोपलब्धं मन्मथसायकानाम्।
पश्योदितं शारदमंशुमालि
सम्पांगताकुंकुमिन्दुबिम्बम्॥
वीथीषु वीथीषु विलासिनीनां
मुखानि संवीक्ष्य शुचिस्मितानि।
जालेषु जालेषु करं प्रसार्य
लावण्यभिक्षामटतीव चन्द्रः॥
'नयकुसुमवर्णिका रजन्या गगनाभोगतरो प्रवालपंक्तिः।
मणिकुंडललता स्मरस्य मन्ये शशिनः प्रायमिवा मयूखलेखा॥"
"शंकराचलनुपस्पायंतो कुंकुमारुणपयोधरश्रियः।
सूच्यत कान्तिमीभिरन्नमन्याय प्राशान्तसीलाय शानी॥
अर्द्धमिलितपरमाकलयन्करैर्मुद्रितपंकजकोषगतभ्रमः।
विकचनसुपसमैयथितार्पितः सखि मिशां सरसीवृन्द पिबुः॥
व्यस्तप्रशोतजलरूपरम्यीम्ण मधुपान
सदनायण्टे मात्रा भानाव दृगि भी मा यनि तथा।
मन्ये निर्धुं मन्ये त्यकरिपिरदामोततदणी
कलाशोत्यमपानमयापिफलशापिस्मितनुम॥

मर्कं केऽपि शशंकिरे सलमिधेः पर्कं परे मेनिरे
सारंग कतिचिच्च सञ्जगदिरे भूमेश्च बिंब परे।
इंदौ यद्दलितेंद्रनीलशकलश्यामं दरीदृश्यते
तन्मन्ये रविभीतमन्धतमसं कुक्षिस्थमालक्ष्यते॥"*

पश्य चंद्रमुखी चन्द्रमडलं व्योममार्गसरसीसरोरुहम्।
यामिनीयुवतिकर्णकुण्डलं भारमार्गमानिधर्पणोत्पलम्॥"

अरिपुत्रीस्यसुवर्णोनयिक्रमात्—
किमु विधुं ग्रसते स विधुंतुदः।
नियतितं वदने कथमन्यथा—
वलिकरभनिर्भ निजमुज्झति॥"

'कुरु करे गुरुमेकमयोधनं
विहिरितो मुकुरं च कुरुष्व मे।
विशति तत्रयदैव विधुस्तदा—
सखि! सुखादहितं सहितं मुतम्॥

---

* संस्कृतकी इन उक्तियोंपर गोस्वामी तुलसीदासजीकी ये मधुर सूक्तियाँ बरबस याद आ जाती हैं जैसे—

'कह प्रभु ससि महँ मेचकताई। कहहु काह निज-निज मति भाई॥
कह सुग्रीव सुनहु रघुराई। ससि महँ प्रगट भूमि कै झाई॥
मारयौ राहु ससिहिं कह कोई। उर महँ परी स्यामता सोई॥
कोउ कह जब बिधि रति-मुख कीन्हा। सार-भाग ससि कर हरि लीन्हा॥
छिद्र सो प्रगट इंदु उर माहीं। तिहि मग देखिय नभ-परछाहीं॥
प्रभु कह गरल-बंधु ससि केरा। अति प्रियतम उर दीन्ह बसेरा॥
बिष-संजुत कर-निकर पसारी। जारत बिरहवंत नर-नारी॥"
कह हनुमंत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रिय-दास।
तव मूरति बिधु-उर बसति, सोइ स्यामता भास॥

> ' द्विजपतिप्रसभाहितपातक-
> प्रभवकुष्ठसितीकृतविग्रहः ।
> विरहिणीवदनेन्दुजिघांसया
> स्फुरति पाण्डुरयं स निशाकरः ॥ '*

श्रीहरिऔधजीने भी इस भाव-भावपर एक बड़ी अनूठी उक्ति कही है, जैसे—

> "की शरद-चाँद की कौन किरनें—
> खोवै या सब-गुन बना हुआ ।
> चोवा की चमक अधर-बिंसत—
> रस भीना-दाड़िम-बना हुआ ॥
> इतने में मदन सबै देखा—
> कवि स्याम बड़ा अटपटा हुआ ।
> जबकी से मन भय से भावती
> उसकी अनु मरका बना हुआ ॥
> —आनंदघन

अब तनिक "ब्रजभाषा"-कवियोंकी सूझ-बूझ भी देखें, उन्होंने क्या-क्या उड़ानें उड़ी हैं, जैसे—

> "अति ही अनंद-कंद चंद्रिका सुधाकर की
> पुंडरीक पथिक-प्रिया की कलिहूक है ।

---

* 'श्रीहर्षकी उक्त उत्तम उक्तिपर किसी ब्रजभाषा-कविकी यह सरसयुक्ति कितनी सुन्दर है। देखिये न, जैसे—

> "आँगन में मन-मोहे री राधे,—
> मैंने सुनी स्याम प्रवीन करैगे ।
> कै मुख-चंद चंदहू ते निरमल—
> ध" छोरि प्यारी छोरि गहैगे ॥"
> —आँगन में मन' "

कहत 'किसोर' निसि-नारि के हिए की मनि
दरसत कुँवरि-किसोरी त्रिन-तूल है ॥
दरद-दरैन मन-परत को पूरु सम्पु,
सरद सुधांगिरा की सुख सुख मूल है।
तारकौन-कलित मँझार चल सुभि फुल्यो
अंतरिच्छ ककर-सरोवर को फूल है ॥*

"मकरन-मार्कंद दै करि रंचक-संचय—
पिक-चौव आगें-आगें डोलत मन भायो है।
मनत "कविंद्र" तारे सुमन मकोर चोर—
पैहर चकोर-मोर सोर सरसायो है ॥
ओहि तम बना-बना पैकर वदगन पर
मदन-नरीक मौन-मन पैठ आयो है।
चन्दू-चौहिक्कौन के पसारे बनक्केस-नरु—
तेसु आजु चौदम-जोरस बनि आयो है ॥"

"कहत निसाकर दिवाकर सीहीति परयो—
अंधकार सो लो पढ़ पल में पसायो है।
भोर-भयो जानि कै निहुँगन में सोर मच्यो
जपति-अकास में प्रकास सरसायो है ॥

---

* तदेतदलंकारसे अलंकृत कुछ ऐसी ही अनूठी उक्ति महाकवि देवदासने भी कही है यथा—

"फूलन की सुभ गेंद नई, सूँघि सची जनु डारि दई।
दरपन सो ससि श्रीरति को आसन काम-महीपति को ॥
मोतिन को सुचि भूषन मनो, भूलि गई रवि की तिय मनो।
देव-नदी-जल हंस कह्यो, मानहु भूलि सरोज रह्यो।
दैन कियौं नभ-सिंधु लसै देव-नदी-तट-हंस बसै ॥"

—इत्यादि-इत्यादि।

परी चकाचक चाक-चमू चतुरंगिनी में—
"नागर" तपत तेज नभ पर आयो है।
चंद्रमों न होहि यह भौमिनी के जीतिबे कों
मैन-महारथी महा-मंत्र कै चलायो है॥"

"हरत किसोर जो चकोरैन को ताप किधौं—
कुमुद कलाप मुकलीकर सुघर सो।
मौलिनीन हूँ के हिय-हरष-हर्षित कर
कैरव-कलित कर कवि कमल-चंद सो॥
मुदित कमल-अवली कर तिमिर—
कमली कर दिसौनि-अवली कर अमंद सो।
औंमद अंमित कर कोक-प्रमुदित कर
कोक अँमुदित कर सँमुदित चंद सो॥"

सवैया

"चिर-हैरनि मानौं रमा उमगी मुख कुमकुँम-रंजित आनत है।
रजनी-उर को अनुराग कहै किधौं मूरतवंत विराजत है॥
किधौं पूरन-चंद सुघर कपोल "मुकुंद" लसै सुख साजत है।
किधौं प्राची-दिसा नव बाल के भाल गुलाल की बिंदु बिराजत है॥
"सिगरे दिन चारि पहार समेत लगी अति दुस्सह दूसन सों।
भई जैसी महा "रघुनाथ" कहै वह पार अपार के कूसन सों॥
पल दीठि लगाइ न जाइ लगी द्रुमि भूमि रही भरि दूखन सों।
सोई दीपत सी 'ससि' आवत है छिति सींची पियूष मयूखन सों॥"

चंद्र मयंक—

"चारु चंद्रिका सिंधु में सीतल स्वच्छ सनेज।
मनौं सेस में सो भिजै दिनाधिपति-सेज॥"

८

"कोऊ कहै है कलंक, कोऊ कहै सिंधु-पंक,
कोऊ कहै छाया है तमोगुन के नास की।

कोऊ कहै मृग-मद, कोऊ कहै राहु-रद,
कोऊ कहै नीलगिरि सोभा आस-पास की ॥
"सेनापति" यू मेरे जान चंद्रमा की कौन बिधि—
दैव चाँहीं समता को राधा-मुख आस की ।
वारिधि तें आती छीन आई है निसाकर की
पार-पार दीसत है कालिमा अकास की ॥

•

सुंदर बदन तेरो सोभा को सदन रचे !
मदन बनायो करि-मदन बनाइ कैं ।
ता की छबि छीन कों उदित भयो रैनि-पति
राख्यो मति-मूढ निज कर बगराइ कैं ॥
कहै कवि "चिंतामनि" ताहि निसि-चोर जानि-
दई है सजा सु पाक-सासन रिसाइ कैं ।
याते सदाँ फिरै अमरावती के आस-पास
मुख पै कलंक-मिसि कारिख लगाइ कैं ॥*

---

* कुछ ऐसी बात कवि गोविंद गिल्लाभाई ने भी कही है—

अमृत कों देखि परयो राधिका के ओठन में
चंद्रिका-छिनाई दई देखो दइनारि कों ।
षोडस-कलानि-करि वंचित बनाए देव
ता कों निसिपति ईस पावत प्रमाद कों ॥
पौर्नि-सुकृति छीन भारी है गगन माँहि
ऐसे सब छीन कियो मेटि मरजाद कों ।
"गोविंद" कहत तब काल में कलेस पाइ,
चंद के कलंक नभ-सिख फिराद कों ॥

अथवा—

"अगम्यगमन है दैन कों, या औनन सों चंद ।
ताही तें पूरन भयो, मंद परत क्रम चंद ॥

पूरन हँसित-वनिता की मुख-चाह तामें
रचना रुचिर वर भूषण-रंग की।
वैसी नभ-सरवर फूल्यो है कुमुद तामें-
मेचक-प्रभा है वासी अलकी अनंग की॥
जौरों कवि कोविद उपमा अनेक वही
"चंद्रम" कहत में मृदु हूँ हि विधि अंग की।
निपटी विरचि वाहि नीलिम विसौंस वा लें-
नीलिम दिखात मानों आरसी अनंग की॥"

सवैया

"पिय प्रान-कुमार की चाह कि वा मधि राजति कालिमा रंगु भरी।
छबिमें सुर-मीर पियूष की बीच कि नीलम पीठि की छाँह परी॥
कवि "कमल" रीति सैवोलिमि है पिय के मुख अंक सुरंग धरी।
मनु सोवत सूधे चकोरनि के सु मनौ पुतरीन की पाँति अरी॥"

दोहा

"बदि-बदि मुख-समता कयों चढ़ि आयो निसंक।
ता तें पंक मयंक ही पायो अंक-कलंक॥"

चंद्रोपालंभ—

"अरे मतिमंद चंद, जिन है अनंद तेरो
जो है विरहिनि जरि जात तेरे ताप ते।
तू तो दोषाकर, दूजे धरे है कलंक उर
तीसरे कपाली-संग हैठ्यो सिर पाप ते॥
कहै "मतिराम" हाल जाहिर जहान सबै
बारुनी की वासी भयो रवि के प्रताप ते।
बाँध्यो गयो मथ्यो गयो, पियो गयो खारो भयो
बापुरो समुद्र तो कपूत ही के पाप ते॥"

सिंधु को सपूत-सुत सिंधु-तनया को बंधु
मंदिर अमंद सुभ सुंदर सुधाई के।
कहै "पद्माकर" गिरीस के बसी है सीस
तारन को ईस कुल-कारन कन्हाई के॥
हाल ही तू बिरह-बिचारी ब्रज-बाल ही पै
ज्वाल से जगावत जुवाल सी जुन्हाई के।
ऐरे मति-मंद-चंद आवत न तोहि लाज
ह्वै कै द्विजराज काज करत कसाई के॥*
अमरत बिलोम-धौंम धौंम-मुख आखो भयो
बिधि सब अंग तौंम खोइक बनाई तू।

---

* पद्माकरजीके इस भाव-मात्रको अयोध्यानरेश महाराज मानसिंह उपनाम "द्विजदेव" जीने भी अपनाया है जैसे—

"सौंस ही तैं आवत हमनव कचारी-कर
पाइ कै कुलगत कलोंनु-कुलचाह को।
निपट निसंक है तभी तैं कुल-गौंनि लोंनि
औगुन अनेक नैंकु मुले न बाप भाई को॥
ऐरे मतिमंद-चंद, आवत न लाज तोहि
देखि कुल बापुरे बियोग-सबतरें को।
ह्वै कै सुधा-धाम काम-विष को बगारे मूढ़,
ह्वै कै द्विजराज, काज करत कसाई को॥"

कुछ ऐसा ही किसी संस्कृत-कविने भी कहा है जैसे—

'सुतिर्दुग्धसमुद्रतो भगवतः श्रीकौस्तुभो सोदरो
लोकार्हं कुमुदाकरेषु किरणः पीयूषधारकिरः।
स्पर्शो ते मदनाम्बुधेर्मृगदृशां तस्याणुपूरामपे
हंहो चन्द्र! कथं न सिध्यसि मम व्याधमुचो सेधि॥'

पौढ़न सौसम की सुअंग-भय संग सच्यौं
चंदन अबीर-पीर आनें ना पराई है ॥
“चातक कवि” कहत है मनोज मनमथ मारे,
पितु की नसीया क्यों न होहि दुख-दाई है ।
सिंधु-सिर पाइ सिंधु-नैन कहि जाइ
द्विजराज-पद पाइ दाह होत क्यों कसाई है ॥”
बिरह की जारी मनमथ की मरोर मारी
अबला बिचारी कहें आरत मचाई को ॥
अति सुकुमार ऐसी कोमल-सी ही कुच-भए
गावें गुन देव-वधू जाकी सुघराई को ॥
ऐसी बिरहाई यही हाई किन्हूँ यों कीन्हों—
मिलिहै उपाइ यों कहाँ तें पतिताई को ।
माई बैदराज की अमृतताई तेंम पाइ
चाँदमुख कहाइ कमम करत कसाई को ॥”
“मूल मकरंद के मयूख भरि जैसो मद—
गुन-धारि जैसो या सुगंध सरसाई को ।
कहीं जैसो मूलक तें केतकी-कमल फूल
हूलिगो मलाल अलि-पुंज-पुराइ को ॥
“कोठीरैल” सुकवि मनोज माकनी को हूलो
हूँलो अलि आस बिरही-जन हँसाई को ।
राजहंस-बालक के पंख निरबंध हूलो
पंख मिलि जैसो या कमलाभिलाष-कमाई को ॥”

सवैया

सेत-पछार कमार भए, आवनी जनु पारद-ओढ़ि पछारी ।
होत ही इंदु उदोत सखी चहुँ ओर तें मोर चकोर को मारी ॥
फूली कमोद कली बिकसी आवती अलि की अलि पै निरधारी ।
कोपि कै चंद नियोंग के सोंग पे मारौ वियोग तें नैन निहारी ॥”

गुनौतीत—गुण+अतीत, गुणोंसे परे, पृथक्, निर्गुण । गुणोंके प्रभावसे पृथक् । त्रिगुणात्मिकासे निर्लिप्त ।

वेदान्तवादी जिसे माया कहते हैं उसीको सांख्यवाले त्रिगुणात्मक प्रकृति कहते हैं, अतः त्रिगुणातीत होना ही गुणोंसे परे होना ही, मायासे छूटकर परब्रह्मको प्राप्त होना, पहिचान ऐसा कहा है । इसीको 'ब्राह्मी अवस्था' भी कहते हैं, जैसे—

'प्रकाशं च प्रवृत्तिं च मोहमेव च पाण्डव ।
न द्वेष्टि न सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति ॥
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेङ्गते ॥'

× × × ×

'समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ॥
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः ।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता १७ । २२ २३ २४, २५

—अर्थात् हे पाण्डव ! प्रकाश, प्रवृत्ति और मोह (क्रमसे सत्व, रज, तम आदि गुणोंके कार्य अथवा फल) होनेसे जो उनका द्वेष नहीं करता और प्राप्त न हों तो उनकी आकांक्षा भी नहीं रखता, जो उदासीन-सा रहता है, अर्थात् गुण जिसे चल-विचल नहीं कर सकते, वह इतना ही मानकर स्थिर रहता है कि गुण अपना-अपना काम करते हैं, मुझसे उनका क्या प्रयोजन । जो डिगता नहीं—विकार नहीं पाता, सुख-दुःख जिसे एक-से ही हैं । मिट्टी, पत्थर और

क्षेमा जिसे समान है, प्रिय-अप्रिय, निन्दा-स्तुति भी जिसे समान है और जो सदा धैर्यसे युक्त है। मान-अपमान या मित्र और शत्रु जिसे तुल्य हैं—बराबर हैं और जिसके सब उद्योग (काम्य) छूट गये हैं, उसे "गुणातीत" कहते हैं।

भगवान—षड्-ऐश्वर्य-युक्त, नारायण। षड (छै) ऐश्वर्य, यथा—

"ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः।
ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥"
—विष्णुपुराण ६। ५। ७४

अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य आदिसे संयुक्त, भगवान्, अथवा—

"उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिं गतिम्।
वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति॥"
—विष्णुपुराण ६। ५। ७८

अर्थात् उत्पत्ति, प्रलय, प्राणियोंका आना-जाना, विद्या और अविद्याके जाननेवाले "भगवान्" कहे जाते हैं। अथवा—

"भर्गश्री योनिवीर्येच्छायत्नवैराग्यकीर्तिषु।
माहात्म्यैश्वर्ययत्नेषु धर्मे मोक्ष च भगश्री॥"
—मेदिनीकोषे

हरि, अगनि, भोर, गुनौतीत और भगवौन शब्दके सरस प्रयोग।

"हरि दुराइ अगिनि लय लाई॥" —श्रीसूर
"सोवत 'हरिजि'-भवरा तीर।" —नन्ददास
"भोर भिनसार केही जगा मैरी।" —श्रीसूर
"गुनौतीत भगवौन कहावै।" —मधुर अलि

२४

गोपी-वचन

दुराई—छिप रहा। दिव्य-दृष्टि (दृष्टि)—अलौकिक ज्ञान-संपन्न। सर्वज्ञ। बिसवास (विश्वास)—प्रतीत, धारणा, भरोसा। यथा—

समौ विस्रम्भविश्वासौ ।

—अमरकोष २ । ८ । २१

विश्वास, अर्थात् वह धारणा जो कि मनमें किसी व्यक्ति-विशेषके प्रति उसका सद्भाव, हितैषिता, सत्यता, दृढ़ता अथवा किसी सिद्धांत आदिकी सत्यता या उत्तमताका ज्ञान होनेके कारण होती है। अथवा किसीके गुण आदिका निश्चय होनेपर उसके प्रति उत्पन्न होनेवाले मनके भावको—प्रतीतको विश्वास कहते हैं।

कूप—कुआँ, इनारा आदि " ।

"पुंस्येवान्धुः प्रहिः कूप उदपानं तु पुंसि वा।"

—अमरकोष १ । १ । २६

दुराई, दिव्य-दृष्टि, बिसवास और कूपका सरस प्रयोग।

"राधे परम सुजान 'दुराई' किन सो कैसी।"

—रसिकदास

"जाइ न देख्यौ दिव्य-दृष्टि-बिनु कौतिक करौ उपाई।"

—परमानंददास

"सुनि राधे नवनागरी हो हमन करें बिसवास।"

—हरिराम

"चिबुक—'कूप' की का कहौं सोभा।"

—कृष्णदास

श्रीनंददासजीके इस उत्तम-भावपर भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्रजीकी भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

"चाहिये हम बातन की नेम।
चोरी हम सों कौन चढ़े नहिं मरो क्यों करि नेम॥
मन की सुरति प्राननाथ की आँखिन में न समाइ।
तन कों सब पल पीतम-प्यारो कैसें सपनेहिं अमाइ॥
भई भक्त सब सूरत नैनों न्यौंम-गस्त मनाइ।
समक चोर के अगम अन्त है रोइ-रोइ करि हाइ॥
जो तुम मन-चोर जिहि चाली रोइ सखी क्यों मौन।
'हरीचंद' हाँसी चाहो है करत्यौं न्यौंम-वियोग॥"

—प्रेमफुलवारी

कवि रसरूपजी कहते हैं—

"बसि गई आँखिन में पदम-सरोज बास
धँसि गई ओरैम किसई भौंह सारे की।
रसि गई रस-रीति रसे से रोम-रोम हँसे—
भावै मधुर लहर जमे कारे की॥
लसि गई सुगति पूछे मनकी अनेक संग,
अबन विचारि ऐसी विपत विचारे की।
कसि गई 'रसरूप' कौन में सुबंसी-तान
बसि गई आँखिन सुरति बंसीवारे की॥"

—उपालंभशतक

२५

उद्धव-वचन

भक्ति—परमात्मामें परम अनुराग। यथा—

"सा परानुरक्तिरीश्वरे।"

—शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १।२

भक्त-प्रवर श्रीनारदजीने अपने भक्ति-सूत्रमें—किसी भी पदार्थसे गाढ़ प्रेम रखनेको 'भक्ति' कहा है, जैसे—

सात्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।"*

—नारदभक्तिसूत्र-२

भक्तिके सबसे प्रथम दो भेद—रागात्मिका,† जिसे 'अहैतुकी' भी कहते हैं और 'वैधी' (स्वार्थमय, वा गौणी) कहे जाते हैं। वैधी जिसे कि 'गौणी' भी कहा जाता है पुनः तीन भेदोंमें विभाजित की गयी है, जैसे—

'गौणी त्रिधा गुणभेदादार्तादिभेदाद्वा।'

—नारदभक्तिसूत्र-५६

अर्थात् गौणीभक्ति, सात्विक, राजस और तामस तीन गुणोंसे युक्त हो सात्विकी (पवित्र), राजसी (अहंभावित) और तामसी (मोहरूप)—आदि तीन प्रकारकी होती है।

---

* भक्ति-रसामृतसिंधुके कर्ताने भी—'हमारे इष्ट पदार्थोंकी ओर जो हमारा आन्तरिक प्रेम रहता है, उसी उत्साहित प्रेमको भक्ति कहा है।'

† रागात्मिका 'भक्ति'की व्याख्या करते हुए श्रीरूप गोस्वामीजी कहते हैं—

'इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता॥'

अर्थात् अपने प्रियमें स्वाभाविक प्रेम पूर्ण आवेश और तन्मयतायुक्त जो भक्ति हो उसे 'रागात्मिका' भक्ति कहते हैं।

साधनाके अनुसार 'भक्ति' नौ प्रकारकी और कही जाती है, जैसे—

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्॥'

—भागवत ७।५।२३

जैन-मतानुसार भक्ति, वह ज्ञान है जिसमें निरतिशय आनन्द हो—सर्वप्रिय, अनन्य, प्रयोजन विशिष्ट और वितृष्णाका उदय-कारक हो।

नवधा भक्ति जैसे—कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदनके अनंतर एक प्रकार की और भी कही जाती है, जिसे 'प्रेमरूपा परानुरक्ति' भक्ति कहते हैं।

भक्तिमें दो विभाग हैं, एक प्रकृतिका दूसरा प्रत्ययका, अस 'भज्' प्रकृति है और 'ति' 'प्रत्यय' भज्का अर्थ है सेवा—परि चर्यारूप क्रिया और 'ति' का अर्थ है भाव, प्रेम या रति। अतएव प्रेमान्तर सेवा, अर्थात् भगवत्-प्रेम होनेके लिये जो सेवाकी जाय उसे 'भक्ति' कहा जाता है। भक्ति शब्दके अर्थके साथ एक बात और भी कही जाती है, वह यह कि जिस प्रकार भक्ति शब्दके प्रकृति और प्रत्ययमें सेवा और प्रेम समाया हुआ है उसी प्रकार उसमें ज्ञान भी समाया हुआ है, क्योंकि—

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दाऽनुगमादृते।'

अर्थात् ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं जो कि शब्दके साथ नहीं

रहता, अतः सेवा-संबंधी, आत्मसंबंधी और ब्रह्मसंबंधी ज्ञानसहित प्रेम होनेके लिये जो विविधकी सेवा या वृत्ति की जाय वह 'भक्ति' कहलाती है।

नारदजीने अपने 'भक्तिसूत्र'में ग्यारह प्रकारकी भक्ति जैसे—ईश्वरके गुण माहात्म्यमें, उसकी सुन्दरतामें, स्मरणमें, सेवामें, दास, मित्र और कांता-भावमें, पुत्र-भावमें आत्म-समर्पणमें, तन्मयतामें और परम विरह भाव उसके ध्यानमें प्रेम-आदि कही है, जैसे—

'गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति पूजासक्ति स्मरणासक्ति दास्यासक्ति सख्यासक्ति कांतासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परमविरहासक्ति,—रूपा एकधाप्येकादशधा भवति ॥" —नारदभक्तिसूत्र-८२

निहकरम—शुद्ध निष्कर्म, अर्थात् कर्म-रहित, कर्मोंसे परे, अलग, जो कर्मोंमें लिप्त न हो।

भक्ति और निहकरम शब्दके सरस प्रयोग—

"बिना भक्ति क्यों जनम गमावै रे मूरख अज्ञान।" —सूर

"विष्णु नारायण कृष्ण जो वासुदेव ही आह ॥
परमेश्वर परमात्मा विश्वंभर निहकर्म ॥"
—विश्रामसागर

उपनिषद् भी यही बात कहते हैं कि कर्मसे ईश्वर-प्राप्ति नहीं होती, अपितु निष्कर्म होनेसे ही प्राप्ति होती है। जैसे—

'जानाम्यहं शेवधिरित्यनित्यं
न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्।
ततो मया नाचिकेतश्चितोऽग्नि-
रनित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥"
—कठोपनिषद् १।२।१

अंधन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः॥
अन्यदेवाहुर्विद्ययान्यदाहुरविद्यया।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे॥"
—ईशावास्योपनिषद् ९।१

परीक्ष्य लोकान्कर्मचितान्ब्राह्मणो
निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्॥"
—मुण्डकोपनिषद् १।२।१२

श्रीमद्भागवत भी यही बात कहती है—

वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे।
नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः॥
—श्रीमद्भागवत ११।३।४६

२६

गोपी-वचन

परमान—सीमा, सबूत, सचमान सिद्धान्त, प्रमाण। *प्रभुता*—आधिपत्य, ऐश्वर्य। *नवीन*—भीना हुआ मृत विरक्त, न्यारा, परे, बाहर, निर्लेप, असंग आदि।

परमान, प्रभुता और नवीन शब्दके सरस प्रयोग—

वेद उपनिषद् वदत "परमान।"—भीमर

'प्रभुता' पाइ काहु मद नाहीं।—तुलसीदास

सूरदासजी कहते हैं—

"अबिगत-गति सब कोउ समुझावै ।
ऐसौ कोउ नाहिंन माधौ पीतम सिरी मनमाथ मिटावै ॥
आयौ दूत कपट कौ बासी निरगुन-ग्यान बतावै ।
सखा हमारे स्याम-मनोहर नैनन-भरि न दिखावै ॥
ग्यान-ध्यान कौ मरम न जानैं चतुरहि चतुर कहावै ।
'सूरदास' सबै अपनौं अपनौं ही हित भावै ॥"

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

"जो पै ईस्वर साँची कौन ।
तो क्यों जग को मानैं मूरख झूठो करत बखौन ॥
जो करता साँचो है तो सब करतबहू साँच ।
जो झूठो है ईस्वर तो सब जग हू जानौं काँच ॥
जो हरि एक नहीं तो माया यह दूजी है कौन ।
'हरीचंद' कछु भेद मिल्यो नहिं थकी जिय आयो मौन ॥"

—जैन कुतूहल

२७

उद्धव-वचन

नस्वर—नाशवान, भंगुर, मिथ्या । वासुदेव— वसुदेवजीके पुत्र, भगवान् श्रीकृष्ण अथवा—

वसति वासयति आच्छादयति सर्वमिति वा वासुः ।
दीव्यति क्रीडते विजिगीषते व्यवहरति द्योतते स्तूयते
गच्छतीति वा देवः वासुश्चासौ देवश्चेति वासुदेवः ॥

—विष्णुसहस्रनाम शां० भा०

अर्थात् बसते हैं, अथवा बसाते यानी आच्छादित करते हैं इसलिये 'वासु' हैं और दीव्यति, अर्थात् क्रीडा करते, जीतनेकी इच्छा

करते, व्यवहार करते, प्रकाशित होते, स्तुति किये जाते, इसलिये 'देव' हैं। अत इस प्रकार जो 'वासु' भी है और 'देव' भी है उनका नाम भगवान् 'वासुदेव' है, यथा—

"छादयामि जगत्सर्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततः स्मृतः॥

—महाभा० शा० ३४१।४१

अथवा—

"वासनात्सर्वभूतानां वसुत्वाद्देवयोनितः।
वासुदेवस्ततो वेद्यः ... ... ॥"

—महाभा० उद्यो० । ३

अथवा—

"जगदाच्छादयति माययेति वासुः स एव देव इति वासुदेवः।

अर्थात् जगत्को मायासे आच्छादित करते हैं इसलिये 'वासु' हैं और वे वासु ही 'देव' भी हैं, इसलिये 'वासुदेव' हैं। यथा—

छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः।"

—विष्णुस० टी० म

अधोक्षज—पुन अधोक्षज, जिसका स्वरूप इन्द्रियोंसे प्रत्यक्ष न हो वह अधोक्षज, अर्थात् भगवान् विष्णु, यथा—

"अक्षजात् इन्द्रियजात् ज्ञानात् अधस्तात् प्रत्यक्षगम्यम्।

अथवा—

अधो न क्षीयते जातु यस्मात्तस्मादधोक्षजः।"

—महाभा० उद्यो० ७०।१०

कभी नीचे, अर्थात् अपने स्वरूपसे क्षीण न होवे वे अधोक्षज।

अथवा—

द्यौरक्षं पृथिवी चाधः तयोर्यस्मादजायत मध्ये वैराजरूपेण इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् आकाश अक्ष है और पृथ्वी अध है, भगवान् इनके मध्यमें विराट्‌रूपसे प्रकट होते हैं, इसलिये 'अधोक्षज' हैं।

अथवा—

अधोभूते प्रत्यक् प्रवाहिते अक्षगणे जायते इति वा अधोक्षजः।"

अर्थात् अक्षगण (इन्द्रिय) के अधोमुख यानी अन्तर्मुख होनेपर प्रकट होते हैं, इसलिये अधोक्षज हैं, यथा—

अधोभूते ह्यक्षगणे प्रत्यक्प्रवाहिते।
जायते तस्य वै ज्ञानं तेनाधोक्षज उच्यते॥

अत श्रीकृष्ण नारायण—

वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः।"

—अमरकोष

सरूपी—सरूपी, अपने स्वरूपकी—रूपकी। प्रापति—प्राप्ति, पाना, लाभ अधिगम, उपार्जन।

प्राप्तिर्महोदये लाभेऽपि च स्त्रियाम्।"

—मेदिनीकोष

नस्वर, बासुदेव, अधोच्छज, सरूपी और प्रापति आदि शब्दोंके सरस प्रयोग।

'नस्वर सकल बिस्व हरि नाँहीं। —श्रीसूर

"प्रगटे आइ बसुदेव-देवकी 'बासुदेव' कहिलाए।"—कृष्णदास

"नेति-नेति कहि बेद पुकारत सुख 'अनोपम' रूप।"

—रामदास

"बुद्धि-सरूपी ब्रह्म नाहिं कछु मौन बखानी।

—बीरबल

"आपहि सोहैं ब्रह्म भी होइ।

—परसराम

२८

गोपी-वचन

नास्तिक—ईश्वरको न माननेवाला, अनीश्वरवादी, अथवा जो श्रुति-स्मृतियोंको प्रमाण नहीं मानते, वेद निंदक पाखंडी।

नास्तिको वेदनिन्दकः।

अथवा—

नास्तिकस्य कृतघ्नस्य ।

—मुक्तिकोपनिषद् १।४८

निज—अपना, यथार्थ सच्चा, खास। भानु—सूर्य, सूरज, भास्कर आदि—

'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः।"

—अमरकोश १।३।३१

परछाँही—शरीर या अन्य वस्तुकी छाया, प्रतिबिंब, प्रतिच्छाया। दर्पण-आभास—दर्पणपर छाया, प्रतिबिंबकी तरह। करोर—करोड़। ब्रह्म—परमेश्वर।

नास्तिक, निज, भानु परछाँही, दर्पण-आभास, करोर और ब्रह्म शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

"नारिकौन" कैसी रीति चलाई।"

—गोकुलदास

कहूं रहति कमल-कमलई क्यों है "मित्र" गए दुराई।

—सूरदास

"मधुपी आँसु" आसु मित्र दृग तें" ।"

—मानदास

"कुलीन पैहौ काक 'मरालीहि' मित्र" " ।"

—नन्ददास

काग करी "कोकिल" चतुराई। —मानदास

'भय-भय क्यों भजन तुम्हीं ही गुरुपाये ।"—सूरदास

सत्यकवि कहते हैं—

"पतियाँ-प्रसाद अनूपम तौ सखी पै होत
बतियाँन बिबस बिसैबौ कछु हाँसी है।
"मधुकर" निराम नैन-मुनें चौंप चोरै नैन
हिय की कलिन ऐसी कौन ब्रज-बासी है॥
कहौ पै संदेसे देवे वाही चित-चोर पे है,
आपुन मलिन भये और को मिलासी है।
कहाँ लौं न भाये नेकु माधुरी मुरली धीति
बिनवैसी कहा जायें जी पै अविनासी है॥"

—सत्यस्नेही

रत्नाकरजी कहते हैं—

"नेम ब्रत संजम के पींजरे परे कौ जब—
लाज-कुल-कानि-प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं।
कौन गुन-गौरव कौ लंगर लगावै जब—
सुधि-बुधि ही कौ भार टेक करि टारि चुकीं॥

२२

दुरि-दुरि—छिप-छिप । कौंन—स्मरण, मौन, नमन । कोरि—करोड़, गिनती विशेष, संख्या विशेष, गिननेकी संख्या विशेष । बहुताइत—विशेषता, अधिकता ।

दुरि-दुरि, कौंन, कोरि और बहुताइत शब्दोंका सुंदर प्रयोग ।

"दुरि-दुरि पिय-हिय अति सरसावै ... ।" —मधुरअली

राई-नोन वारि-फेरि ... ।" —सूरदास

"जतन कोरि करि हँम सग हारी ... ।" —कुम्भनदास

'बहुताइत' की प्रीति न छोरे पद हो चतुर-बिहारी ॥

—चतुर बिहारीदास

कुछ ऐसी ही बात धर्मदासजी भी कहते हैं—

"साहिब चितवौ हमरी ओर ।
हम चितवैं तुम चितवो नाहीं तुम्हरो हियो कठोर ॥
औरन को तो और भरोसो हमें आपको तोर ।
'धरमदास' चितवै कर-जोरी साहिब कबीर बंदी-छोर ॥"

—संतबानी संग्रह २ भाग

घनानंदजी कहते हैं—

"चातक चुहल चहुँओर चाहै स्वाति ही कौ
सूरेपन-पूरे जिन्हैं विष-सम अमी है ।
प्रफुलित होत भानु के उदोत कंज-पुंज
ता बिन बिचारनि हीं जोति-जाल तमी है ॥
चाहौं-अनचाहौं जान प्यारे पै 'आनँदघन'
प्रीति-रीति बिषम सु रोम-रोम रमी है ।
मोहि तुम एक तुम्हैं मो सम अनेक आहिं
कहा कछु चंदहि चकोरन की कमी है ॥"

अथवा—

हम एक कुबरीपे हेतु मोहे तुम कैक अनेकनि सों सरसौ।
हम औंस-अपार बिथावत ज्यों तुम पै बिसवास किये बरसौ॥
'घनआनँद' मीत सुजान सुनौं तब सों-अब क्यों मन सों सरसौ।
तकि नेकु दई त्यों दया किन है, सु कहूँ किन दूरहु तें दरसौ॥

—सुधानिधान

११

इतराइ—इतराना, घमंड करना। अधिकार—प्रभुत्व, हक। अबला—बलहीना, नारी, स्त्री, यथा—

"स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः।"

—अमरकोश २।६।२

इतराइ, अधिकार और अबला शब्दोंका सुंदर प्रयोग।

'बात बूझति यातिनि "इतराइ"। —सूरदास
अब कौ कह 'अधिकार' कर्यौ तुम ~ ।"

—गोविंद स्वामी

कुछ ऐसी ही बात ग्वाल कविने भी कही है, जैसे—

"प्रेम नेम गये भेद बातें निरबारें बातें
अब उन्हें कहा परी 'महाराज' भए हैं।
कहत सैंदेसो ऊधौ सुख के सुभाव जोंपि
हम सुख मानें जब बैठे सुख दए हैं॥
इतैं 'कवि ग्वाल' पुरोनी पेहिचानि जोंपि
जोगी सुधि आप ते बियोगी मूकि गए हैं।
इतैं बैरी बिरह बिहाल करैं बार-बार
साजत क्योंबे नटसाल फिर नए हैं॥

—ग्वालकवि

ठाकुर कवि कहते हैं—

"बैगरी न आवो ऊधो चित के चँदोवा करैं
बिगरी नहीं सुधरै सनेह सरबैन की ।
आपनेई हाथ लै कै करत हवाल ऐसी
आप होनहार भी हवाल गारबैन की ॥
'ठाकुर' कहत मैं बिचार को बिचारि देख्यो
बिरली मिलै है जो लगाइ सरबैन की ।
पैर प्रीति रीति जासों जैसी जहाँ नाँधि कहू
एक सो निबाहियो है काम मरदैन को ॥

भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी कहते हैं—

जोग की ज्योति करत करिए ।
हम अबलैन पै बिना बात ही रोष नहीं करिए ॥
मधुसूदन हरि कंस-निकंदन, रावन-हरन मुरारि ।
तुम गोपिन की सुरत करी क्यों सौंपत हमको रारि ॥
निरगुन को पथ अब नहिं देहो सोंधी कहत गुपाल ।
'हरीचंद' अब ही है हमने कहा सिखाये काल ॥
—प्रेम प्रभार

२५

व्याल-असन—गरुड़, साँपके खानेकी ज्वाला, अग्नि, आग । यथा —

" कृशानुः पावकोऽनलः ।"
—अमरकोश १ । १ । ५४

विष-ज्वाल—विष, जहरकी ज्वाला, लपटें, यथा—

पातङ्गपोऽग्न्याल वीमा " ।"
—अमरकोश १ । १ । ५७

ब्याल-अनल विष-ब्याल-आदिके सरस प्रयोग।

"ब्याल-अनल' सौं सब सखन राखत करि ˜ ।

—सूरदास

विष-ब्याल' तें रच्छ न ... ।" —स्यामदास

श्रीनंददासजीने उक्त भाव श्रीमद्भागवतसे लिया है। जैसे—

'विषजलाप्ययाद्व्यालराक्षसाद्
वर्षमारुताद्वैद्युतानलात्।
वृषमयात्मजाद्विश्वतोभयाद्
ऋषभ ते वयं रक्षिता मुहुः॥

—श्रीमद्भागवत १ । ३१ । ३

अर्थात्—

'सविष-नाल सौं ब्याल-बाल सौं
अनिल-मेघ सौं विद्युत-वेग सौं।
वृषभ-व्योम सौं विश्व-कोप सौं
विषम तू बची है सदा हो॥

—कन्हैयालाल पोद्दार

नंददासजीके—"गोवर्धन कर धारि करी रच्छा तुम कैसे" रूप इस उक्त अवतरणपर 'रहीम' की भी एक सरस सूक्ति है, जैसे—

'जो 'रहीम' करिबो हुतो, ब्रजको इहै हवाल।
तौ काहे कर पर धरयौ गोवर्धन गोपाल ?॥

—रहीम-रत्नावली

मतिरामजी कहते हैं—

"कहा दवागिनि के पियें, कहा धरें गिरि धीर।
विरहानल में जरत ब्रज बूड़त लोचन-नीर॥"

—मतिराम-सतसई

सहायक इस प्रकार कि—'चोरि चित लै गयो' रस निधिजीकी एक सूक्ति देखिये, जैसे—

> माखन-चोरी सों करी पाकि रह्यो नँदलाल।
> चोरन लाग्यो अब अहो गोपिन को मन-माल॥
>
> —रसनिधि

और भी—

> "जब गोवर्धन कर-धर्यो गोपी-ग्वाल-बचाइ।
> अब गिरिधर यह बिरह सिर क्यों न उठावत आइ॥"
>
> —रसनिधि

विशेष—

भ्रमर-गीतकी सम्पूर्ण प्रतियोंमें इस छन्दके दोनों—'व्याल-अनल और विष-ज्वाल' को समासांत पद माना है, जिससे अर्थमें पुनरुक्ति दोष आ जाता है। 'व्याल-अनल और विष-ज्वाला' एक ही घटनाके द्योतक हैं। अतः 'व्याल-अनल' को समासांत पद न मान उसे पृथक्-पृथक्, अर्थात् व्याल पृथक् और अनल पृथक् करके अर्थ करनेसे उसकी—घटनाक्रमकी संगति बैठेगी। अतएव व्याल, अर्थात् अघासुर और अनल, दावाग्नि, विष-ज्वाल—कालिय सर्पके जहरकी लपटोंसे रक्षा की—बचा ली, इत्यादि। सूरदासजीने भी इनको पृथक् पृथक् ही वर्णन किया है, जैसे—

> "ऊधो हरि कहियो प्रतिपालक।
> जे रिपु तुम पठिये हति डारे बालक भए अति सालक॥
> अघ बक बच्छ तृनावर्त केसी पुनि सब मिलि मग घेरत।
> बूड़ो जाति नंद-मंदिर-ब्रज धीर आतुरौ टेरत॥
> जब जागी दौंगी केहरि काँ धूँट रह्यो करि पात।
> सन्तत सूर सहाय करे को रही छिपक की घात॥"
>
> —सूरदास

३५

पातक—वह कर्म जिसके करनेसे नरक जाया जाता है, कर्ता-को नीचे पटकने—ढकेलनेवाला कर्म, पाप, कल्मष, अघ, बदकारी, गुनाह-आदि।

पातकोपोगकरक " " ।"

—अमरकोश १ । ५ । ११

प्रायश्चित्त-मतानुसार 'पातक' के नौ भेद कहे जाते हैं, जैसे—अतिपातक, महापातक, अनुपातक, उपपातक, संकरीकरण, अपात्री-करण, जातिभ्रंशकर, मलावह और प्रकीर्णक।

करनहार—करनेवाले। पै प्यावत—दूध पिलाते,

यथा—

'प्रथम कंस पूतना पठाई।
नंद-घरनि जहँ सुत कौं बैठी चलि तिहिं धाँमहिं आई॥
अति मोहिनी-रूप धरि लीन्हौं देखति सबही के मन-भाई।
जसुमति रही देखि वाकौ मुख कह धौं बधू कौन धौं आई॥
नंद-सुवन जबहीं पहिचानी असुर-घरनि असुरन की जाई।
आपुन बज्र-समान भए हरि माता दुखित भई अकुलाई॥
ल्यौ महरि पाहुनी मेरी हौं तुम्हरी सुत देखन आई।
यह कहि गोद लियौ अपने कर त्रिभुवन-पति अति मन मुसिकाई॥
कुच-चूच्यौ गहि कंठ लगाए, विष-लपट्यौ अस्तन मुख नाई।
पै-सँग प्रान खैंचि हरि लीए, जोजन एक परी मुरझाई॥
त्राहि-त्राहि करि ब्रज-जन धाए अति बालक क्यौं पर्यौ कँन्हाई।
अति आनँद-सहित सुत पायौ हिरदै-लाँसि रहे लपटाई॥
ब्रजधर हरी बची मैरे की घर-घर आनँद करत बधाई।
'सूर' स्याँम पूतनौं-पछारी यै सुनि जिय डरप्यौ नृपराई॥

—सूरसागर

पूतनौं—राक्षसीविशेष, इस राक्षसीको—दानवीको कंसने कृष्णके मारनेके लिये गोकुलको भेजा था। यह मायासे अपनेको सर्वसुंदर बनाकर नंदके घर गयी थी और वहाँ श्रीकृष्णको अपनी गोदीमें ले विष-लगा स्तन पान कराने लगी। श्रीकृष्ण भी स्तन पान करने लगे, जिससे दानवी पूतनाके स्तनोंमें पीड़ा होने लगी। तब उसने अपना असली रूप प्रकट कर स्तन छुड़ाना चाहा, पर भगवान् श्रीकृष्ण कब छोड़ने लगे। विशेष वेदना होनेपर दानवी घोर गर्जन करती हुई सदाके लिए सो गयी और श्रीकृष्ण उसकी छातीपर खेलने लगे।

मित्र—वह जो सब बातोंमें अपना साथी सहायक, समर्थक और शुभचिंतक हो, सब प्रकारसे अपने अनुकूल आचरण करनेवाला और अपना हित चाहनेवाला। बन्धु, सखा, सुहृद्, दोस्त आदि।

'अथ मित्रं सखा सुहृद्।'

—अमरकोष २। ८। १२

पातक, पत्रनहार, पैन्यावन, पूतनौ और मित्र शब्दके सुंदर योग, यथा—

कहि ब्यासत तजकी तन 'पातक' कारन-करन-आप।"

—सूरदास

"जाके "परनहार" तुम ब्यौंरो लवलावर तु समान।

—नंददास

"मसि के गरभ लगाइ हरीरिन ये कवि सी दै 'पैन्यावन'।

—सूरदास

"कपट करि ब्रजहि 'पूतनौं' आई।"

—सूरदास

कपटी 'मित्र' कौन्ह कुमारी ... ... ।"

—चरनदास

कुछ-कुछ ऐसी ही बात सूरदास भी कहते हैं—

"जानि आए, कौन्ह भ्रमर की भाँति ।
सारंगसुत हतो बजाइ-बाँसुरी अब छोड़ी पैड़ भाँति ॥
जिन पै-प्यावत पुत्रनौ मारी ग्रासत करी न हाँनि ।
चलि-छलि बाँधि पताक पठाया, नेक न कीनी काँनि ॥
जैसे कपिक अधिक मृग बिचरत राग-रागिनी ठाँनि ।
अवधि-आस परतीति भोर है हँसत बिषम-सर-ताँनि ॥
जैसे मारुत दरस न डर हैं तुम कहौ कति बाँनी ।
सूरदास प्रभु के बिन आवें अमृत माखें माँनी ॥"

—सूरसागर

३६

आगे—अगाड़ीसे ही, पहिलेसे ही। *रामचंद*—अयोध्याके इक्ष्वाकु-वंशी राजा महाराज दशरथके बड़े पुत्र जो ईश्वर या विष्णु भगवान् के बारह कलायुक्त मुख्य अवतार माने जाते हैं और जिनकी कमनीय कथा रामायणमें वर्णित है।

विश्वामित्र—एक लोकप्रसिद्ध महर्षि, इनको गाधिज, गाधेय और कौशिक भी कहते हैं।

विश्वामित्र, कान्यकुब्ज देशके महाराज 'गाधि' के पुत्र थे, अतः क्षत्रियकुलमें जन्म लेनेपर भी आपने तपोबलसे महर्षि कहलाये। ऋग्वेदमें अनेक मंत्र हैं जिनके द्रष्टा विश्वामित्र और उनके वंशज माने जाते हैं। इनका विश्वामित्र नाम ब्राह्मणत्व प्राप्त करनेपर

पन्नग पंख सुमन सिर सोहत क्यों कहौं बेष सुहाई।
मनु मूरति धरि उभै भाग भई त्रिभुवन सुंदरताई॥
पैठत सरनि सिलनि-चढ़ि चितवत खग-मृग-बन-रुचिराई।
सादर सभै सप्रेम पुलकि मुनि पुनि-पुनि पैठत पुन्य॥
एक तीर तकि हती 'तारिका' विद्या विप्र पढ़ाई।
राख्यो जग्य जीति रजनीचर भइ जग-विदित बड़ाई॥
चरन-कमल-रज-परसि अहिल्या निज पति-लोक पठाई।
'तुलसिदास' प्रभु के बूझें मुनि सुरसरि-कथा सुनाई॥

—गीतावली

तथा—

'दसरथ सौं रिषि आनि कह्यौ।
असुरनि सौं जग होन न पावत राम-लछन तब संग दयौ॥
मारि तारिका जग्य करायौ विस्वामित्र अनंद भयौ।
सीय-स्वयंबर जानि 'सूर' प्रभु कौं रिषि लै ता ठौर गयौ॥

—सूरसागर

कुलदीप—कुलके दीपक, उजागर करनेवाले।

आगे, रामचंद्र, विस्वामित्र, तारका और कुलदीप शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

आगें राम पाछें राम दूत राम रत राम ।

—श्रीव्यासस्वामी

'पारस सुन्यौ कौसिल्या माता 'रामचंद्र' मिलि आई॥

—सूरदास

चले जात मुनि दीन्ह दिखाई।
मुनि 'तारिका' क्रोध कर आई॥

—कुम्भनदास

'सदै भए 'कुबरीप' कलिके मानस काज न भाई ॥

—नागराज

कुछ ऐसी ही बात श्रीसूर भी कहते हैं—

"कहो गोपाल कहा को बासी कासों है पहचानि ।
तुम संदेस कौन के पठए, कहत कौन के कानि ॥
अपनी चोंप मधुप रुचि बैठत और अर्के रस-खानि ।
पुनि वह बेलि यही है सूखी ताहि कहा हित-हानि ॥
मधुप बेंधु मन हरयो आहीरिन राग-रागिनी-तानि ।
पुनि जो कलित विसरत सुभाषी हँसत विलास-रस-ठानि ॥
है-आवत पठयौ निर्मोही छाँड़े सु मति सो हरानि ।
सूरजदास तासन निपाती, 'सूरदास' दै कानि ॥

—सूरसागर

३७

स्त्री-जित—स्त्रीके आधीन, स्त्री-वश्य, स्त्रीने जीत लिया, स्त्रैण । लक्ष-लायक—चतुर, निशाना मारनेमें चतुर । कोपि—कोपकर, कोपित होकर, गुस्सेमें आकर । विरूप—कुरूप, भोंडा, लोपि—लोपकर, तोड़कर, नाशकर ।

स्त्री-जित, लक्ष-लायक, कोपि, विरूप, और लोपि शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा —

"ए निरखे 'युवती-जित' पुरे सम्मुख मनि-मनीन ।

—मानदास

लच्छ-लायक में चतुर महाबल पै बीरा रोके भारे ॥

—रामदास

"गिरि पै 'कोपि' कर मार्यो इंद्र रिसाइ ।"

। । । । ।

—केसोदास

"वामन रूप 'विरूप' कियो अति हरष बढ़ायो ।"
—गदाधरदास

"कपट लोपि गिरिधर सब घेरी सखियन करि चतुराई ।"
—चतुर्भुजदास

सूरदासजी कहते हैं—

पंचवटी-वन आए दोउ भाई ।
काम-बिबस व्याकुल डर-अंतर राक्षसि एकु तहाँ चलि आई ॥
हँसि कर राम कह्यो सीता सों इहि लछमन के निकट पठाई ।
भृकुटी कुटिल अरुन अति लोचन अतिहि रिसित-मुख बचन सुनाई ॥
मैं चेरी भई मदन-बिबस सों ज्यों चरन रघुराई ।
बिरह-बिथा-तन ताज भई पुरि बार-बार अकुलाई ॥
रघुपति कह्यो निकट लिपट द्वै नारि राक्षसी सों तें आई ।
'सूरज' प्रभु पतिनी-मन जड़ी करी नाक नई निसिआई ॥
—सूरसागर

३८

आली—सखी, सहचरी, सहेली । समानवयस्का, समवयस्क,

यथा— आलिः सखी वयस्या च ... ।"
—अमरकोश १ । ६ । १२

बलि राजा—दानव-पति, बलि, दानवपति विरोचनके पुत्र और परम भक्त प्रह्लादके पौत्र (नाती) थे । विष्णु भगवान्‌ने वामन अवतार लेकर इसे छला था और पुन पातालका राज्य दिया था ।

बनमाली—भगवान् श्रीकृष्णका नाम विशेष, यथा—

वनमाली बलिध्वंसी .... ।"
—अमरकोश १ । १ । २१

अथवा—

"वनमाली तु गोविंदे ।"

—मेदिनीकोष

अथवा वनमालाको जो धारण करे वह "वनमाली"। वनमाला—

"आपादप्रपदं या माला वनमालिं इति सा मता।"

—कर्मिनो

अथवा—

"भूततन्मात्ररूपां वैजयन्त्याख्यां वनमालां वहन् सा वनमाली"। —विष्णुसहस्रनामशांकरभाष्य

अर्थात् भूततन्मात्रोंकी बनी हुई वैजयंती नामक वनमाला धारण करनेसे भगवान् "वनमाली" कहलाते हैं।

बाँमन—शुद्ध वामन, विष्णु भगवान्का नाम विशेष, विष्णुका पाँचवाँ अवतार जो कि दानवपति बलि राजाको छलनेके निमित्त हुआ था, यथा—

"औरौ भयो "बाँमन" अवतार।
कहौं सुनौ सो अब चित-धार॥
हरि जब अंमृत सुरन-पियायौ।
तब बलि असुर बहुत दुख पायौ॥
शुक्र ताहि पुनि जग्य करायौ।
सुर कैं राज्य तिलोकी पायौ॥
सिंघासनतें अम्य पुनि फिर।
तब दुख भयौ अदिति के हिए॥
हरि-हित उनहु पुनि बहुत पुकारयौ।
"सूर" सौंम बाँमन-बपु धारयौ॥"

× × × ×

हरि आये हैं द्विज वामन।
चारों वेद पढ़त मुख-आगर, अति सुकंठ सुर-गावन॥
बाँभी-मुनि बलि पूजन आयो द्वारे विप्र क्यो आसन।
चरचित चंदन नील कलेवर बरसत बूँदन सावन॥
चरन धोइ चरनोदक लीनौ माँगि देउँ मन-भावन।
तीन पैंड वसुधा हौं चाहौं परन-कुटी के छावन॥
इतनी कहा विप्र तैं माँग्यो बहुत रतन देउँ गावन।
'सूरदास' प्रभु बोलि छल्यो बलि धरयो पीठि पै पावन॥

—सूरसागर

वामन शब्दका एक और कमनीय अर्थ होता है, जैसे—

"सम्भजनीय इति वामनः।"

—शं सं पां भा

अर्थात् भली प्रकार भजने योग्य होनेसे आप 'वामन' हैं, जैसा कि मंत्रवर्णमें लिखा है—

"मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते।

—कठोपनिषद् २।५।३

अर्थात् मध्यमें स्थित वामनकी विश्वेदेव उपासना किया करते हैं।

परवत—पहाड़, शैल, गिरि, नग। यथा—

'महीध्रे शिखरिक्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः।'

—अमरकोश २।३।१

वपु—शरीर, बिना मनका। सत—सत्य, ठीक यथार्थ—

"सत्यं तथ्यमृतं सम्यग् ।"

—अमरकोश १।७।२२

लोभ—तृष्णा, लालच, लुब्ध, दूसरेके पदार्थको लेनेकी इच्छा करना।

आली, बलिराजा, बनमाली, औसर, परबत, अकाज, सच और लोभ शब्दोंके सुंदर प्रयोग, यथा—

'हौं तेरी 'आली' आँसु-सुधा के तीर बैठी अन्हवाहीं।"

—परमानंददास

सुनि औसर कहे 'बलिराजा' आयुधि बस्य बिसारी।"

—सूरदास

"आली उत 'बनमाली' बैठ में 'सौंपत गोरस दीन।'

—चतुर्भुजदास

"वारों देह पहत सुख आगर है 'औसर' अनुसारी॥

—सूरदास

"वारौ सिमटि सकल ब्रजबासी 'परबत' कौं बलि दीजै।"

—[illegible]

करि 'अकाज' कारि सुख दीन्हौ" । —सूरदास

"मालिनि 'सच' बचन सुख औषि।" —कृष्णदास

"तुम यही की 'लोभ न मोरे' चाहे बैठी आज।"

—मीराबाई

श्रीनंददासजीने ३० और १८ वें छंद, श्रीमद्भागवतके निम्न-लिखित श्लोकोंके आधारपर रचे हैं—

"मृगयुरिव कपीन्द्रं विव्यधे लुब्धधर्मा
स्त्रियमकृत विरूपां स्त्रीजितः कामयानाम्।
बलिमपि बलिमत्त्वावेष्टयद्ध्वाङ्क्षवद्यस्
तदलमसितसख्यैर्दुस्त्यजस्तत्कथार्थः॥"

—श्रीमद्भागवत १०।४७।१७

कवित्त—

बिरह बनि आयो है ब्याध ज्यों बधिक ही कौ
रस-रत लिये कुसुम भौंर ही के बासी हो।
बधिक रूप बधिक हू कै काज ज्यों पास ही है
तऊ ऐसे न कहा वे श्याम-सीधी पूरी है॥

—कन्हैयालाल बेदार

श्रीसूर कहते हैं—

ऊधौ जानत सुभाव हरि कौ सदनैन गुन।
कपट-कोष वपु धरत रम सम सुर-सुन्न गुन-औगुन॥
भौंम सुनत छबि पर पुरुष सब आइ कमल पर दौनम।
परमहंस बिहंग देखतहिं व्याकुल मिथ्या-औगम॥
बालकर्षन कौ राज सँहारयौ कोल-कारज हर-ढारी।
सूपनखा की नाक बिगारी तिय-बस भए मुरारी॥
बलि कौं बाँधि पताल पठायौ कीन्हे वामनि आई।
सूर प्रीति जानी तैं हरि की कहा बात नहीं जाई॥

—सूरसागर

श्रीनंददासजीके—'भोगत काँमन रूप धरि ...' पर कविवर ठाकुरजी भी यह सूक्ति देखने लायक है, जैसे—

साँचो कहतें कहो हम सों हम तौ सब नेकु न माँगती हैं।
तब बावन है बलि पाइ छले, हम सो बतियाँ पहिचाँनती हैं॥
करि 'ठाकुर' बाँधि गई बतियाँ तिनकौं बिधि के गुन माँगती हैं।
तुम ता। अब राम के राम कहा हम तौ घरै बास न माँगती हैं॥

—ठाकुरदास

पद्माकरजी कहते हैं—

> बीथिन बीच कुसुमी करी मधुमासहिं परम पुनीत।
> बहुरि बहत अलि बागमहिं ले अलि कछुक समीर॥

—जगद्विनोद

बिहारीलालने भी 'अलि बालम' की पटतरपर बड़ी अनोखी रुचिर रचना रची है, जैसे—

> घरै रितुभी पहुँचे निकसि अति ग्रीषम दिखाइ।
> अलि-बौरन की भीर अलि लै अलि तुम्हें परखाइ॥

—बिहारी सतसई

३९

परसरोम–परशुराम, महर्षिविशेष। कहते हैं परशुराम ईश्वरके छठे अवतार हैं। इनके पिताका नाम महर्षि जमदग्नि और माता रेणुका थीं। पहिले इनका नाम केवल 'राम' था, परंतु गंधमादन पर्वतपर अपनी घोर तपस्यासे महादेवको प्रसन्नकर उनसे एक तेजोमय परशु पाया, तभीसे आपका नाम 'परशुराम' पड़ा। पुराणोंमें लिखा है—इन्होंने अपने पिताकी आज्ञासे माता रेणुकाका सिर काट डाला था। इक्कीस बार पृथ्वीको क्षत्रियरहित भी किया था अपने पिता-के बदलेमें।

संघारी–संहारी, नाश कर दी, मार डाली। सोनितकुंड—शोणितकुण्ड, रुधिरकुण्ड, रुधिरके कुण्ड, महकुण्ड, खड्ड, गड्ढा। पोखे—पालित किये, पालन किये, परवरिश किये। पित्र—पुरखे, पिता—प्रपितामहादि, बाप-दादे-परदादे आदि। जिरग–युग, रज।

परसरौंम, सधारी, सौनितकुंड, पोसे, पित्र और मिछम आदि शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'छिन्न सेन चतुरंग सधारी ।

—मतिराम

भयौ क्यौं 'परसरौंम अवतार ।

—सूरदास

सौनित-कुंड' बहुत तहँ भरे ।

—रसनिधि

'पावन कियौ बसुदेव-देवकी नंद-जसोमति 'पोसे हो ।

—अनन्यअली

'पित्र-काम कमल मँडराई चले जमुन-जल न्हौन ।

—माधोदास

मिछम बनि मारौं' कह्यौ प्यारि ।

—सूरदास

परशुरामजी इस कथापर सूरदासजीका यह पद देखिये, आप कहते हैं—

'परसरौंम जमदग्नि-घर लीन्हौ हौ अवतार ।
माता ताकी जमुन-जल, कौंन गई इकबार ॥
आगी तहाँ बयार तिहिं चाँपि करि मोह अपार ।
परसरौंम सौं यौं कही या कौं धरि मँझार ॥
और सुतन तब कही पिता नहिं कीनी पैमी ।
मोचरन रिपि कह्यौ करौ तुमहुँ सों बैसी ॥
परसरौंम तिन सबन कौ मार्यौ फरसा प्रहार ।
रिपि कह्यौ होइ प्रसन्न बर माँगौ देऊँ कुमार ॥
परसरौंम तब कह्यौ बढ़े बर देउ तात बर ।
मारें जाहिंन मुए फेरि कैं जीवें य सब ॥

रिषि कह्यौ यह पर त्रिया मैं इनकौं देहुँ कसाई ।
परसराम तबहीं त्रिया सोवत मारी जाई ॥
परसराम बन गए, तहाँ रिषि बहुत दुख पाए ।
सहस-बाहु तिहिं समै रिषी के आस्रम आए ॥
कामधेनु जमदग्नि की लै गयौ नृपति छिनाइ ।
परसराम सौं बोलि रिषि दियौ वृत्तांत सुनाइ ॥
परसराम सुनि पिता-बचन तबहीं संहारयौ ।
कामधेनु लै जीति बहुरि रिषि कौं प्रतिपारयौ ॥
सहसबाहु के सुतनि सुनि रिषी घात-करि आइ ।
परसराम जब बन गए, मारे रिषि कौं धाइ ॥
रिषि की तिय पति देखि मृतक तब रोइ पुकारी ।
परसराम तुम आइ अबहु क्यौं नाहिं गुहारी ॥
सो सुनि कै आए तुरत मारे तिन्हैं प्रचार ।
बहुरौ छिति-पति क्रोध हति छत्रिय इकइसबार ॥
पुनि अस्नान है गयौ रिषिनि तब अति सुख पायौ ।
दै पृथ्वी कौं दान आइ फिरि बनहिं सिधायौ ॥
बहुरि राज दियौ छत्रियन भयौ रिषिनि आनंद ।
सूरदास पावन हरन गावत गुन-गोविंद ॥

—सूरसागर

४०

हिरनकस्यप—दैत्यविशेष, जो कि प्रहलाद भक्तके पिता थे। शुद्ध नाम हिरण्यकशिपु और प्रसिद्ध विष्णु-विरोधी। हिरण्यकशिपु महर्षि कश्यप और दिति के पुत्र थे। इन्हें ब्रह्मासे यह वर मिला था कि मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी आदि किसीसे न मरें। इससे ये अत्यन्त प्रबल और अजेय हो गये। तब इन्होंने अपने परम भागवत पुत्र

प्रह्लादको भगवद्भक्ति करनेके कारण बहुत सताया और एक दिन उसे खंभेसे बाँध और तलवार खींचकर मारनेको बार बार पूछने लगा कि क्या ? तेरा भगवान् कहाँ है ? जो आकर बचाये, तब भगवान् नृसिंह (आधे सिंह आधे मनुष्य) का रूप धारणकर खंभेको फाड़ प्रकट हुए और हिरण्यकशिपुको फाड़कर मार डाला ।

ढीठ—धृष्ट, बेअदब, कही न माननेवाला ।

धृष्टे धृष्णग्वियातश्च ।

—अमरकोश ३ । १ । २५

प्रहलाद—प्रह्लाद, दैत्येन्द्र हिरण्यकशिपुके परमभक्त बेटे जिनके निमित्त विष्णु भगवान्का चौथा नृसिंह अवतार हुआ था । झगरयो—झगड़ा किया, तकरार ठानी । सिच्छा (शिक्षा)—शिक्षा, उपदेश । बपु—शरीर, अवतार । नरसिंह—नृसिंह, प्रसिद्ध नृसिंहावतार जो अपने भक्त प्रह्लादके लिये लिया था । नखन—नाखूनोंसे ।

हिरनकस्यप, ढीठ, प्रहलाद, झगर्यो, सिच्छा, बपु, नरसिंह और नखन शब्दोंके सुन्दर प्रमाण, यथा—

"हिरनकस्यप" अति प्रबल हुआ है तब कीन्ही परवाह ।"

—सूरदास

मारत आप न पावत कोऊ भया "ढीठ" अति भीम ।"

—मानस

तबहिं असुर प्रहलाद बुलाए तब तौं भरिभर ।

—सूरदास

"मोरिहि कीन्ह करत मोसौं झगरौ ।"

—[illegible]

सिच्छा' दई मइ इहि व्याकिनि सिर पै हाथ धराई ।

—कृष्णदास

प्रगट भए नरहरि 'बपु धरि हरि कमलनयन अवतारी ।"

—सूरदास

"तब बोले नरसिंघ' कृपाकरि सुनहु भक्त मम बात ।"

—सूरदास

"पकरि लियो छिन माँहि असुर बलि, उदरयौ नरसिंह' बिदारी ।"

—सूरदास

४१

सिसुपाल—शिशुपाल, चेदि देशके राजा दमघोषके पुत्र थे। दमघोषको भगवान् श्रीकृष्णकी बूआ (फूआ) ब्याही थी। शिशुपालकी माता सुप्रभाको यह मालूम हो गया था कि इसे (शिशुपालको) श्रीकृष्ण ही मारेंगे, अत उसने भगवान्से शिशुपालके सौ अपराध क्षमा करा लिये थे। महाराज युधिष्ठिरके प्रसिद्ध राजसूय-यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णका सर्वोपरि पूजन होनेके कारण शिशुपालने श्रीकृष्णको बड़ी गालियाँ दीं, अतएव भगवान् श्रीकृष्णने उसकी सौ गालियाँ सुनके बाद मार डाला। इस घटनाके आधारपर माघ कविने एक बड़ा सुंदर नाटक जिसका नाम 'शिशुपालवध' है रचा।

भीषम—भीष्मक, राजा विशेष, भीष्मक विदर्भ देशके राजा थे। इन्हींकी पुत्री श्रीरुक्मिणी भगवान् श्रीकृष्णको ब्याही थीं।

देसी—देशको, नगरको। दुल्ही—दुलहिन, नयी बहू, वधू, नव परिणीता वधू, नई ब्याही बहू। छुधित—क्षुधित, भूखा, बिभुक्षित।

'कबहुँ कहुँ गावत ही कबहुँ खग-मृग-लता-कोपी।'
—मानदास

'प्रगटित पाक भीती कमलापति।' —सूरदास

कुछ ऐसी ही बात श्रीशुक भागवतमें कहते हैं—

गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः॥
—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ९

अर्थात् अपने प्रियके कर्मोंका गान करती हुई और उनके बाल-कैशोर अवस्थाके जो कार्य उनका स्मरण करती हुई लज्जा छोड़कर रुदन करने लगीं।

श्रीनंददासजीकी—'सा पाछें इकबार ही रोइ उठीं ब्रज-नारि' रूप सूक्तिपर श्रीशुकने श्रीमद्भागवतमें और भी कहा है, जैसे—

इति गोप्यः प्रगायन्त्यः प्रलपन्त्यश्च चित्रधा।
रुरुदुः सुस्वरं राजन्कृष्णदर्शनलालसाः॥'
—श्रीमद्भागवत १० । ३२ । १

अर्थात्—हे राजन्, इस प्रकार गोपियाँ गान करती हुई और नाना प्रकारका प्रलाप करती हुई श्रीकृष्णके दर्शनमें अत्यन्त लालसा लगा अति उत्तम स्वरसे रोदन करने लगीं। उत्तम स्वर, यथा—

'सुस्वरं करुणदीर्घस्वरेणेत्यर्थः।' —श्रीजीवगोस्वामी

अथवा—

'सुस्वरं निर्लज्जतया दीर्घस्वरेण रुरुदुः।
—श्रीरामनारायण

६१

सलिल—जल, पानी, यथा—

'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं' कमलं जलम्।

—अमरकोष १।९।१

कंचुकी—वस्त्र-विशेष, जो कि 'चोली' कहलाता है और स्तनोंपर पहिरी जाती है। कचुकी, चोली, अँगिया।

स्त्रीणामङ्गरक्षिणी।' —हेमचंद्र

कंचुको वारबाण स्यान्निर्मोके कञ्चुकेऽपि च।

यथाफकगृहीताग्रस्थितकक्षे च चालके॥

—मेदिनीकोष

मेंड़ि—घेरा, बाड़, हद, सीमा। कूल कौ तृन भयौ'—किनारेका तिनका हुआ। कूल—किनारा, तीर, तट, नदीके किनारे-का तृण, अर्थात् तिनका हुआ। कूल, यथा—

कूलं रोधश्च तीरं च प्रतीरं च तटं त्रिषु।

—अमरकोष १।९।७

मेदिनी कोषकार 'कूल' के इतर और अर्थ बतलाते हुए कहते हैं—

'कूलं तटे सैन्यपृष्ठे तडागस्तूपयोरपि'

—मेदिनीकोष

और तृन, (तृण)—

शष्पं बालतृणं घासो यवसं तृणमर्जुनम्।

—अमरकोष २।४।१६७

---

१ उक्त पदमें तृन या तृणको वन मानकर कई सुलेखकोंने इसके बड़े-बड़े विचित्र अर्थ किये हैं। कोई तो इसका अर्थ घास, रखा मानता है तो कोई औषधि और कोई किनारेका पेड़ द्रुम वन मानता है परन्तु हमारी तुच्छ बुद्धिके अनुसार उक्त शब्दका अर्थ यही उपयुक्त है।

सलिल, कंचुकी, मैलि आदि शब्दका सुन्दर प्रयोग, यथा—

ऐंचति पटि बनी गिरि धूमा 'सलिल' बरषि मल-मैल सिरायौ ।

—सूरदास

एक लोंच भयी छूटि मरम वाकी एक बिन 'कंचुकी' रीति जनायी ।

—हित भगवान

मनों मनतकी मैलि बहाई रुचिर कपोल के बीच ।

—रसिकअनन्य

श्रीनंददासके उक्त सुमधुर भावपर भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी-की भी सुन्दर सूक्ति है, जैसे—

तुम्हारे नैन बही नदिया ।
बीती जाति आजि आवन की जो हमसों बदिया ॥
अपमानी हम लखन-अंग सब अंजन धों धोयो ।
अंसु, नैन, कुच-कंचुकि बहाई सुख न कबहीं खोयो ॥
तुमसों हौं बहु कहु जताइव नहिं रीति कैसी ।
'हरीचंद' बिन मधुरम्याहु तुम आयसी गति कैसी ॥

—प्रेमाश्रुवर्षण

बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर कहते हैं—

'कहत रस मधुर-सुनाई 'रत्नाकर' त्यौं
आँगन भाषि भया भार त्यौं मग्यी यही ।
बहि तुम धार की उमंग कुच कंचुकि गई
गुरु-गिरि-रोक-टोक है थिमि एती यही ॥
काम-अभिलाख-भोर-भ्रामन गँभीर कमी
हँसनि-हँसंग वारि करत बड़ी बढ़ी ।
धीरज-करार ढोरि लज्जा कुल-तोरि बोरि
नीचवार नैननि तें निकसि चली चढ़ी ॥

—श्रृंगारलहरी

अश्रु-वारि-वर्षापर कवियोंने बड़ी-बड़ी सुंदर सूक्तियाँ सुनी हैं, अश्रु-वारि-वर्षाकी विचित्र बहारें बखान की हैं, झड़ी-सी लगा दी है। इन सबमें प्रथम श्रीसूरकी नेत्रवारि वर्षा देखने लायक है, जैसे—

नैन-घन रहत न एक घरी।
कबहुँ न बरसत सदौं पावस रुति अगनित रहति झरी ॥
बिरह-इंद्र बरसावत निसि-दिन बल पै अधिक करी।
ऊरध-साँस-समीर तेज अति उर सुधि कैसहि मरी ॥
बूड़ति भुजा रोम-द्रुम अंबर घर कुच उच्च धरी।
चलि न सकत मन पथिक रहे थकि, पंकज कीच भरी ॥
रस-रितु मिटी भई मन पूछै दुरि बिधि उलटि परी।
'सूरदास' प्रभु तुमरे मिलन कौं रितु-बरसात टरी ॥

—सूरसागर

अथवा—

सखी इन नैननि तें घन हारे।
बिनहीं रितु बरसत निसि-बासर सदा मलिन दोउ तारे ॥
ऊरध-साँस-समीर तेज अति सुख-अनेक-द्रुम-डारे।
दिसिन-दिसन करि बसे बचन-खग दुख-पावस के मारे ॥
ढरि-ढरि बूँद परति कंचुकि पै मिलि-मिलि अंजन कारे।
मानौ परन-कुटी सिव कीन्ही बिबिधि रूप करि न्यारे ॥
सुमिरि-सुमिरि गरजत जल-छाँड़त अँसुवा सलिल सुढारे।
बूड़त ब्रजहिं 'सूर' को राखै बिन गिरिधर धर प्यारे ॥

—सूरसागर

महार कवि कहते हैं—

'जोग-नैन गयौ हो बियोग-वारि-वारिध मैं
बूड़त बच्यौ हौं भाग्य नारी-नैन धौं भरै।
गंग की लहर अपार-तुषार-धार
हंस-दीप नाहिं जो बचौगे गिरि क्यौं नरै ॥

सागर में न देखी ऐसी देख्यो ना जमना पै कहूँ
भूमिन पै कबैं नाहिं कौन-कोकिलें कहैं।
'कवि प्रहलाद भू' मिसमय-सेतु बाँधी नहीं
बद के पतीला पै रावरे मर्ले रहैं॥

रसिकशिरोमणि रसखानजी कहते हैं—

जाप कहा कहिबे कहिये, रूपमोहन-माधौ तें रंग-गोरव।
ता छिन तें मधुर्वौन की धार न छोरति बरषि कोर-किशोरव॥
नैनि कहै 'रसखान' बजाय ज्यों त्यों अभिमोंय तें मोह-मरोरव।
प्यारे पुरंदर होहि न प्यारी कसै एक आफिस में मन-चोरव[1]॥

पुनीत प्रेमके पुजारी 'घनानंदजी' कहते हैं—

'घनआनँद जीवन-मूरि सुजान की कौंधनि हूँ ना कहूँ परसैं।
कहीं आँखियें जी कित छाय रहे दृग चातक-प्रान परे तरसैं॥
बिन पावस तो इन पावस होइ न सु क्यों करिये अब सो परसैं।
बदरा बरसैं ऋतु-में घिरकै, नित पावस ए अखियाँ बरसैं[2]॥

---

१ रसखानके उक्त भावपर हजरत 'नूह' फर्माते हैं—

'मुझसे रोने नहीं देता तसव्वर तेरी आँखों का।
वगर-ना रोनो आलम को डुबाता अपनी आँखों से॥

—नूहनारवी

२ उक्त भावपर कविवर 'ब्रह्म' अर्थात् प्रसिद्ध महाराज 'बीरबल' की भी एक सरस सूक्ति है जैसे—

'पसिद्द के कौंन गए मथुरा, मनौं बीति गए युग-बासर है।
विरहागिनि, काम अपार दहै दै दरो-निमि-देखि नहीं दरसै॥
कविब्रह्म भनें मोहि कौन परे सखि स्यौंम-घटा-नभ्यो परसै।
विरही करि बारहिं बार उठे दृग-नीर किधौं घन जों बरसै॥'

कवि रघुनाथजी कहते हैं—

> मधुपुर के सिधुरे मनमोहन बीती अवधि घरी एक कि द्वै है।
> ऐसी दसा इतने में भई, 'रघुनाथ' सुने तें जचो भै है है॥
> कालिंदी के अँसुवान की सागर[1] बाढ़त जात सबी नभ ह्वै है।
> बात कहा कहिये ब्रज की अब बूड़ि है है कि बूड़त है रे॥[2]"

दो-एक संस्कृत सूक्तियाँ भी देखिये, जैसे—

> ' अनुदिनमतितीव्रं रोदिषीत्यमुत्र्यो
> सखि किल कुरुषे त्वं चाभ्यता मे सुधैव।
> हृदयमिदमनङ्गाङ्गारसंगाद्विलीय
> प्रसरति बहिरम्भः सुस्थितं नेत्रवम्र्मु॥[3]"

---

१ कालिंदीके अँसुवौन की सागर' पर उर्दूके प्रसिद्ध कवि 'जौक' साहबका एक शेर देखने लायक है, जैसे—

> 'समंदर कर दिया नाम, उसका नाहक सबने कह-कहकर।
> हुए थे कुछ जमा आँसू मेरी आँखों से बह-बहकर॥'

२ रघुनाथ कविके पहिले यही बात सूरदासने बड़े सुन्दर ढंगसे व्यक्त की है, जैसे—

> ' निसि-दिन बरसत नैन हमारे।
> सदा रहति पावस-रितु हम पै जब तें स्याम सिधारे॥
> अंजन थिर न रहत अँखियन में कर-कपोल भए कारे।
> कंचुकि-पट सूखत नहिं कबहूँ उर-बिच बहत पनारे॥
> आँसू-सलिल भए पग थाके, बहे जात सित-तारे।
> 'सूरदास' बूड़त है ब्रज अब काहे न लेत उबारे॥

३ "कोई विरह-विधुरा-नायिका सखीके पूछे जानेपर कि 'तू नित्य-प्रति—हर समय इतना क्यों रोती है' । इसपर वह (नायिका) उत्तर देती

"अस्मत्प्रयाणसमये कुरु मङ्गलानि
किं रोदिषि प्रियतमे वद कारणं मे ।
हे प्राणनाथ विरहानलतीव्रताप
धूमेन वारिगलितं मम लोचनाभ्याम् ॥'"

अंगानि मे दहतु कान्तवियोगवह्निः
संरक्ष्यतां प्रियतमो हृदि वर्तते यः ।
इत्याशयाच्छशिमुखी पक्ष्माम्बुभिर्विंदु
धाराभिरुष्णमभिषिंचति हृत्प्रदेशम् ॥'"

हुई कहती है कि सखी! ऐसा—इतना रो-रोकर क्यों रोती है—कहकर मुझे क्यों व्यर्थको बदनाम करती है। मेरी विरह-पीड़ासे अनभिज्ञ सखि! विश्वास कर ये मेरी आँखोंमें आँसू नहीं है अपितु कामाग्निसे पिघल-पिघलकर हृदय पानी हो नेत्रोंके मार्ग-द्वारा पिघलकर होकर बाहर निकल रहा है—बह रहा है। यही भाव कविसम्राट् बिहारीलालजीने अपनी सुमधुर भाषामें इस प्रकार कहा है, जैसे—

"उपज्यो आँसु अति बिरह की बढ़्यो प्रेम-रस-भीजि ।
नैननि के मग जल बहै हियो पसीजि-पसीजि ॥"

—बिहारीसतसई

१ प्रदेश (दूसरे देश) गमनके समय पत्नीके रोनेपर पति पूछता है कि हे प्रियतमे! मेरे प्रस्थान-समय—जानेके वक्त मंगलाचार न कर तुम रो रही हो—इसका क्या कारण है? यह बात सुनकर नायिका—प्रियतमा—उत्तर देती हुई कहती है 'प्राणनाथ, आपकी विरह-वह्नि (आग) का उठा हुआ धुआँ इन आँखोंमें लगा है जिसके कारण मेरी आँखोंसे आँसू निकल पड़े हैं और कुछ कारण नहीं है।'

२ 'कान्तकी—प्रियतमकी वियोग वह्नि (आग) मेरे अंगोंको भले ही जला दे किंतु हृदय-प्रदेशस्थित प्रियतमको यह उत्ताप (गरमी) न लगे, इस आशयसे वह चंद्रमुखी, धाराप्रवाह अश्रु-जल बरसाकर अपने हृदयको सींच रही है—भिगो रही है।"

मधुच्छलेन सुदृशो दुःखपावकधूमकलुषाक्ष्या।
अप्राप्य मानमगे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥[1]"

इस पर उर्दू-साहित्यकी सूक्तियाँ देखिये, जैसे—

"तिफ़्ले-अश्क ऐसा गिरा दामाने-मिज़गाँ छोड़कर।
फिर न उट्ठा कूचए-चश्मे-गिरेबाँ छोड़कर ॥[2]"

—ज़ौक

"फ़लक ने खूब क़ीमत की हमारे दीदये-तरसे।
कि हर आँसूमें ले लोया माहे-महताबे-शिकारीका ॥[3]

× × × ×

मेरे अश्कों में है या तेरे दंदाने-मुसफ्फा में।
गुहर की आब हीरे की दमकसी चूर सारे का ॥[4]"

—दाग

---

१ ऐसी गयी अग्निके धूएँसे धूमरित आँखोंवाली उस सुलोचना नायिकाका सौंदर्य-जल (आबदार पानी) शरीरमें प्रतिष्ठा (मान) न पाकर आँसुओंके बहाने झर रहा है—निकल रहा है।

२ शिशु (बालक) आँसू, मातारूपी पलकोंका पल्ला त्यागकर ऐसे गिरे कि फिर उठाये न उठे।

३ आकाशने मेरे आर्द्र आँसुओंसे चमत्कृत नेत्रोंसे—आँखोंसे खूब लेता ली क्योंकि मित्रके विरहमें मैं रातभर रोया और अपनी आँखों-के हर एक अश्रुकणसे विरहाग्निसे चन्द्रदेवका मूल्य चुकाया किया। तभी तो वह अधिकाधिक उज्ज्वल होता जा रहा है।

४ तुझे अपनी दंत-पंक्तिकी सफ़ाईका बड़ा गुमान है—अभिमान है, पर यह तो बता कि मेरे आँसुओंसे बढ़कर क्या वे (दंतावली) स्वच्छ हैं। मोतीकी आभा हीरेकी दमक और तारों-जैसा प्रकाश तेरे दाँतोंमें है या मेरे आँसुओं में।

'घर मेरा गर मैं न रोता तो भी वीराँ होता।
बहर गर बहर न होता तो बयाबाँ होता॥'[1]

—ग़ालिब

'पुकारा कासिदे-अश्क आज फ़ौजे-ग़म के हाथों से।
हुआ ताराज पहिले जानो-दिल का नगर पीछे॥
लहूको मैं तो अपने साथ ले आया हूँ और बाकी।
चले आते हैं उठते बैठते लख्ते-जिगर पीछे॥'[2]

—नज़ीर

---

१ लोग कहते हैं कि मैंने अपने घरको रो-रोकर बहा दिया मुझे अपनी आँखोंकी आँसुओंकी इस शक्तिसे तनिक भी इन्कार नहीं किंतु इस कारण मैंने अपनी ही हानि की, इस बातको मैं क़तई नहीं मानता। बेशक, मेरी आँखोंने आँसू बहा-बहाकर घरको साफ़ कर दिया—बहा दिया, परंतु यह (आँसू) ऐसा न भी करते तो भी मेरी बरबादीमें कुछ फ़र्क न था क्योंकि पृथ्वीके दो ही थल और जल विभाग हैं। यदि आँखें आँसू न बरसातीं तो जल न होता—जलसे न बहता बयाबाँ होता, अर्थात् जंगल होता।

२ विरहमें प्रेमीके नेत्रोंसे आँसुओंके साथ लहू भी—ख़ून भी आने लगा है। अतः उसके यह ध्यान पड़ने लगा कि अगर कुछ दिन यही हालत होती रही—नित्य-प्रति रोता ही रहा तो कलेजेके टुकड़े-टुकड़े होकर आँसुओंके साथ बाहर आने लगेंगे। इस भावको प्रदर्शन करते हुए कविवर 'नज़ीर' साहब फ़रमाते हैं कि—हरकारारूपी अश्रु यह सँदेसा लाया है कि आज प्रियतमके विरहकी सेनाने पहिले जान (शरीर) रूपी नगरको और उसके बाद दिल (हृदय-पुर) को लूट-मारकर चौपट कर डाला, अतएव उस (जान और दिलकी प्रजारूप) लहूको मैं अपने हमराह (साथमें) लिवा लाया हूँ और पीछे उठते-बैठते लख्ते-जिगर (कलेजे) के टुकड़े चले आ रहे हैं।

यहाँ तक गिरिया में रोए सहर तक ।
गली-कूचे में पानी है कमर तक ॥[1] —तबस्सी

अश्क आँखों से पल नहीं थमता ।
क्या बला दिल-ही-दिल में जाय थुम्ब ॥[2] —सोज़

मज़ा बरसात का देखो तो आ बैठो इन आँखों में ।
सियाही है सफ़ेदी है शफ़क है अब्रे-बाराँ है ॥[3]
—कोई शायर

६२

उद्धवकी प्रेम-दशाका वर्णन

गिलौन—ग्लानि, मानसिक व्यथा, निंदा, अरुचि, भ्रांति, चित्त-की शिथिलता या खिन्नता, रोग-निर्मुक्त, खेद । मनकी एक वृत्ति जिसमें अपने किसी कार्यकी बुराई या दोष आदि देखकर अनुताप, अरुचि और खिन्नता उत्पन्न होती है ।

---

१ मैं उसकी जुदाईगीमें—विरहमें यहाँतक रोया कि गली-कूचोंमें मेरे आँसुओंका पानी कमर-कमर हो गया ।

२ अर्थ स्पष्ट है ।

३ ओ निठुर प्रियतम, यदि बरसातका ही—वर्षाऋतुका ही आनंद लेना है तो मेरी इन आँखोंमें आकर क्यों नहीं बैठता क्योंकि मेरी आँखोंमें वर्षा ऋतुसे रंजित घनघोर काली घटा है उजेला है ललाई है और पानीसे भरे धवलरूप बादलोंसे आच्छादित मेघ भी है ।

उक्त शेरको पढ़कर सैयद गुलामनबी (रसलीन) जीका यह दोहा बरबस याद आ जाता है । जैसे—

अमी हलाहल, मद भरे, सेत स्याम, रतनार ।
जियत, मरत झुकि झुकि परत जिहिं चितवत इकबार ॥

और इनका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा जाता है—

'गोपिकाः श्रुतयोऽभवन् ।"

—गोप्योपनिषद्

अथवा—

गोप्यस्तु श्रुतयो ज्ञेया स्वाधिजा गोपकन्यकाः ।
देवकन्याश्च राजेंद्र न मानुष्य कथचन ॥'

—पद्मपुराण

और इनके नाम—

पूर्णरसा, रसमन्थरा, रसालया, रससुंदरी, रसपीयूषधामा, रसतरंगिणी, रसकल्लोलिनी, रसवापिका, अनंगसेना, अनंगमालिनी, मदयंती, रंगविह्वला, ललिता, ललितयौवना, अनंगकुसुमा, मदनमंजरी, कलावती रतिकला, कलकंठी, कलापस्या, रसोत्सुका, रतिसर्वस्वा रतिचिंतामणि ।

श्रुतिरूपा—

उद्गीता, रसगीता, कलगीता, कलस्वरा, कलकंठिका, विपची, कलपदा, बहुमता, बहुकर्मसुनिष्ठा, बहुहरि, बहुशाखा, विशाखा, सुप्रयोगतमा, विप्रयोगा, बहुप्रयोगा, बहुकला, कलावती, क्रियावती ।

मुनिस्वरूपा—

उग्रतपा, सुतपा, प्रियव्रता, सुरता, सुरेखा, सुपर्वा, बहुप्रदा, रत्नरेखा, मणिग्रीवा, अपर्णा, सुपर्णा, मत्ता, सुलक्षणा, सुदती, गुणवती, सोत्पलनयनी, सुलोचना, सुमना, सुभद्रा, सुशीला, सुरभि, सुखदायिनी ।

और गोपवाला—

चंद्रावली, चंद्रिका, कांचनमाला, रुक्ममाल्यवती, चंद्रानना, चंद्ररेखा, चंद्रवापी, चंद्रमाला, चंद्रप्रभा, चंद्रकला, सौवर्णमाला, मणिमालिका, वर्णप्रभा, सुवर्णकांचनसन्निभा, मालती, यूथी, वासंती, नवमल्लिका, मल्ली, नवमल्ली, शेफालिका, सौगंधिका, कस्तूरी, पद्मिनी, कुमुद्वती, रसाला, सुरसा, मधुमंजरी, रंभा, उर्वशी, सुरेखा, स्वर्णरेखिका, वसंततिलका।

—पद्मपुराण, पातालखण्ड

नित्य-प्रिया सहचारी—

चंद्रावली, विशाखा, ललिता, श्यामा, पद्मा, शैव्या, भद्रिका, तारा, विचित्रा, गोपाली, धनिष्ठा, पालिका, खंजनाक्षी, मनोरमा, मंगला, विमला, लीला, कृष्णा, सारिका, विशारदा, तारावली, चकोराक्षी, शंकरी, कुंकुम।

यूथ-पति—

चंद्रावली, सुशीला, शशिकला, चंद्रमुखी, माधवी, कदंबमाला, कुंती, यमुना, जाह्नवी, पद्ममुखी, सावित्री, सुधामुखी, शुभा, पद्मा, गौरी, सर्वमंगला, सरस्वती, भारती, अपर्णा, रति, गंगा, अंबिका, सती, नंदिनी, सुंदरी, कृष्णप्रिया, मधुमती, चंपा, चंदना।

मरम, मरजाद, रोष और गोपिका शब्दके सुंदर प्रयोग।

यथा—

"'मरम' की पीर न जानत कोइ।"

—अनन्यअली

"ऐसी तब 'मरजाद' सिहारी बासर बरसत बीते।"

—ज्ञानदास

"कहा 'रोग' रहे ए बातें तनक बिचारी मधुकर।"

—सूरदास

"हरि सँग भजत 'गोपिका' रँग भीनी।

—परमानंददास

उक्त भावपर श्रीसूर कहते हैं—

"अब अति चकितवंत मन मेरौ।
आयौ हो निरगुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ।
मैं कछु ग्यान कह्यौ गीता कौ तुमहिं न परस्यौ नेरौ॥
अति अग्यान आनिकैं अपनौ दूत भयौ उन केरौ॥
निज जन जानि हरि इहाँ पठायौ दीन्हौ बोल घनेरौ।
'सूर' मधुप उठि चल्यौ मधुपुरी बोरि जोग कौ बेरौ॥"

—सूरसागर

श्रीनंददास उक्त सूक्ति—"ए सब प्रेमासक्ति हैं रहीं अब-कुल-लोप। धन्य ए गोपिका"—पर श्रीमद्भागवतमें गोपियोंके प्रति भगवान् कहते हैं—

'न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां
स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माऽभजन्दुर्जरगेहशृङ्खलाः
संवृश्च्य तद्वः प्रतियातु साधुना॥'

—श्रीमद्भागवत १ । ३२ । २२

अर्थात्—

"तुम जो करी सो कोउ न करै सुनि नवल किसोरी।
लोक-बेद की सुदृढ़-सृंखला तृन-सम तोरी॥"

—नंददास

६४

मेंटि—मेटकर, नाशकर, तोड़कर। *परमानँद*—परमानंद, अत्यन्त आनंद, विशेष सुख, बहुत बड़ा सुख। *पटतर*—बराबरी, समता, उपमा, उदाहरण, मिसाल, तुल्यता, सादृश्य कथन।

मेंटि, परमानँद और पटतर शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

'मेंटि सकल सुरपति की पूजा गिरि को कान्ह रखायौ।
—परमानंददास
'परमानँद' कान्ह गोकुल मैं घर-घर बजत बधावौ।
—कृष्णदास
मुख 'पटतर' नहिं देन जाने कों कवि मति है अति भूली।'
—विट्ठलविपुल

कुछ ऐसी ही बात श्रीनारदने प्रेमका निरूपण करते हुए अपने 'भक्ति-सूत्र' में कही है, जैसे—

''अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः।
सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा।
अमृतस्वरूपा च।
यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति''

---

१ यही बात श्रीमद्भागवतमें भगवान् कहते हैं—

''न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं
न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्।
न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्॥''
—श्रीमद्भागवत ११।१४।१४

यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते, नोत्साही भवति ।[1]

*

सा न कामयमाना निरोधरूपत्वात् ।
निरोधस्तु लोकवेदव्यापारन्यासः ॥"[2]

—नारदभक्तिसूत्र १—६, ७, ८

अर्थात्—'अब हम भक्तिकी व्याख्या करेंगे । वह परमप्रेमरूपा है और अमृतरूप भी है । जिसको पाकर मनुष्य सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है—तृप्त हो जाता है । जिसके प्राप्त होनेपर मनुष्य किसी वस्तुकी इच्छा नहीं करता न शोक करता है, न द्वेष करता है, न किसी वस्तुमें आसक्त होता है और न उसे विषयादि भोगोंकी प्राप्तिके निमित्त उत्साह ही होता है ।

वह—प्रेमभक्ति कामना युक्त नहीं है, क्योंकि निरोधस्वरूप है । लौकिक और वैदिक कर्मोंके त्यागको 'निरोध' कहते हैं ।

---

१ श्रीशुक कहते हैं—

यस्य भक्तिर्भगवति हरौ निःश्रेयसेश्वरे ।
विक्रीडतोऽमृताम्भोधौ किं क्षुद्रैः खातकोदकैः ॥'

—श्रीमद्भागवत ६ । १२ । २२

२ कुछ ऐसी ही बात गोपियोंने भगवान्से कही है जैसे—

"चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥"

—श्रीमद्भागवत १ । २९ । ३४

श्रीशाण्डिल्य मुनि भी अपने भक्ति-सूत्रमें यही बात कहते हैं, जैसे—

'अथातो भक्तिजिज्ञासा। सा परानुरक्तिरीश्वरे।
तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्।'[1]
तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात्।[2]

—भक्तिसूत्र ११ २ ३, २२

यहाँ भक्तिसे प्रेम या अनुरागका ही अर्थ लेना चाहिये, क्योंकि द्वेषसे प्रतिकूल होनेके कारण और रस शब्द-द्वारा प्रतिपादित होनेसे भक्तिका नाम ही अनुराग है—इसे ही प्रेम कहते हैं, जैसे—

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः।"

—शा भ सू १६

---

१ अब भक्तिकी जिज्ञासा—विचार आरंभ करते हैं। वह भक्ति ईश्वरमें पूर्ण अनुरागको कहते हैं। उसमें जो चित्त लगाता है वह अमृत फल पाता है।

२ इससे भक्ति ही मुख्य है क्योंकि भक्तको कर्मठ, ज्ञानी और योगियोंसे उत्तम कहा है। गीतामें भी यही बात कही गयी है जैसे—

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन॥
योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ६। ४६-४७

योगी तपस्वियोंसे ज्ञानियोंसे और कर्मकाण्डियोंसे अपेक्षा श्रेष्ठ है इसलिये अर्जुन, तू योगी हो। परंतु योगियोंमें मैं उसे ही सबसे श्रेष्ठ, उत्तम युक्त समझता हूँ जो कि मुझमें अंतःकरण लगाकर श्रद्धा-सहित मुझे भजे—मुझमें ही ध्यान लगाये।

सुंदरदासजी कहते हैं—

"न लाज तीन-लोक की न वेद को कह्यौ करै।
न संक-भूत-प्रेत की न देव-जच्छ तें डरै॥
सुनै न कान और की द्रसै न और इच्छना।
कहै न मुख और की सु भक्ति-प्रेम-लच्छना॥"



कबहुँक हँसि उठि नृत्य करै रोवन फिरि लागै।
कबहुँक गद्-गद्-कंठ, सब्द निकसै नहिं आगै॥
कबहुँक हृदै उमंग बहुत ऊँचे-सुर गावै।
कबहुँक ह्वै मुख-मौन गगन जैसो रहि जावै॥
चित्त-वित्त हरि-सौं लग्यौ सावधान कैसें रहै।
यह प्रेम-लच्छना भक्ति है, सिष्य सुनहि 'सुंदर' कहै॥

—सुंदरविलास

६५

लघु-ग्यान—अल्प ज्ञान, न कुछ ज्ञान, थोड़ा ज्ञान । मद—गर्व, अहंकार, अहंमन्यता, घमण्ड, अज्ञान, मतिविभ्रम, प्रमाद ।[1]

"मदोरेतसि कस्तूर्यां गर्वे हर्षेभदानयोः ।

—विश्वकोश

---

१ साहित्यमें 'मद' भी एक संचारी भाव—व्यभिचारी भाव माना जाता है, जैसे—

संमोहानंदसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥'

—साहित्यदर्पण ३ । १४९

अर्थात् जिसमें बेहोशी और आनंदका संमिश्रण हो वह अवस्था 'मद' कहलाती है।

व्याधि—व्याधि, रोग, पीड़ा, क्लेश, दुःख। यथा—

"स्त्री रुग्रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः।"

—अमरकोश २। ६। ५१

साहित्य-शास्त्रमें 'व्याधि' एक संचारी भाव भी माना जाता है, साहित्य-दर्पणमें लिखा है—

"व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत्।"

—सा० द० ३। १६४

ब्रज-भाषाके सुप्रसिद्ध कवि 'पद्माकर' भट्ट संचारीकी व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'काम सोकन आदि ते जे ज्वरादि के पीन।
प्रगट होत 'मद' नाम तहँ औरें मति बलहीन॥

—जगद्विनोद

और उदाहरण जैसे—

'वृंदावन-बीथिनि मैं बंसीबट-छाँह जहाँ।
कौतुक अनोखौ एक आज लखि आई मैं।
जागै जुरो हार एक मदन-बनी की जहाँ—
गोपिन की भीर रहयो घुमि घुँघुराई मैं॥
'द्विजदेव' सोहत की न रीति कछू ऐसी आइ
है रही सु नैननि रसमस की दिखाई मैं।
हैं-हैं कछु रूप मनमोहन सौं चीर
वै अहीरनें गँवारी हेरि हेरन पराई मैं॥

—शृंगारलतिका

अथवा—

"चौंस दमासी भरि रही बिवसि बावरी देह।
झुकति हँसति हँसि-हँसि झुकति झुकि-झुकि, हँसि-हँसि देह॥"

---

१ वात, पित्त और कफ उत्पन्न ज्वरादिको 'व्याधि' कहते हैं।

पिपट कमीकी मवाय लिख चाहकि चाखनी चैद ।
ज्यों-ज्यों अति मीठी लगी त्यों-त्यों तीखी देइ ॥"

—बिहारी सतसई

व्याधि संचारीकी व्याख्या करते हुए पद्माकरजी कहते हैं—

विरह-विषम व्याधि में तन संतापित होइ ।
'ताही सों सब कवि कहत 'व्याधि' कहावत सोइ ॥ [1]

—जगद्विनोद

और उदाहरण—

"खेहैं न पानी और लैहैं न मौंने और
खैहैं न कपोत होत जैस नए आती है ।
पी की कलियोंमें सुधि ली है जति औंसुन की
उमगी नदी-सी चली नदी-सी सुहाती है ॥
सोक है सुहात जाहि सोक है विरम-गात
दिन-दिन मेघ की अवर अहराती है ।
हँसि-हँसि गिरति सुमनि-सों हँसि-हँसि
सखी-सुख चंद-हँसि-हँसि सिसकाती है ॥"

—कोई कवि

---

१ अथवा—

'उपजै ताप वियोग तें, दीरघ रोग उपाय ।
मूँछ व्यात सुधि बुधि घटै, व्याधि कहती हैं तासु ॥

—हितकवि

रोग और वियोगसे उत्पन्न मनके संतापको भी 'व्याधि' संचारी भाव कहा जाता है ।

अथवा—

देखि री आजु मैं नंद-बधू, माई आवती बेंकु न देहि सँभारी ।
माइ सुधायन देखैन-मूरति साधु-सखीनि सखीन पुकारे ॥
जो "रसलीन" सिरयो सगरी ब्रज जीवनके जीव उपाइ बिचारे ।
कोइ न मोहन के करतें यह बरिसि-बाँसुरिया नहि हारे ॥"

—सुजानरसखान

एक और—

"पलकनि प्रगट बरुनीनि बढ़ि नहिं कपोल ठहरौंहु ।
ते अँसुवा छतियों परें छनछनाइ छिपि जाँहु ॥"

—बिहारीसतसई

आधों-आधि—तनक भी, जरा भी, उसके समान नेक भी नहीं । तनक भी नहीं, बराबर नहीं ।

मधु-अर्पौन, मद, ब्याधि और आधों-आधि' आदि सरस शब्दोंके सुंदर प्रयोग—

"कहि मधु-ध्यौन बनात आपुनों कहि निर्गुन की बातें ॥"

—सूरदास

मद' भरी अँखियाँ अरुन छिपारी ।

—नागरीदास

'जागति "ब्याधि" तनकि बिथुरै ससि होइ न कछु बन हौंनौं ।"

—चतुरबिहारी

कुछ ऐसी ही मधुर बात श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

---

१ इस ग्रन्थका पता नहीं मिलता ।

> 'या दोहनेऽवहनने मथनोपलेप
> प्रेंखेंखनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ ।
> गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो
> धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयानाः ॥' [1]
>
> —श्रीमद्भागवत १० । ४४ । १५

श्रीनंददासजीकी उक्त सुमधुर सूक्तिके सदृश भर्तृहरिजीने भी एक बड़ी उत्तम उक्ति कही है जैसे—

> 'यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ।
> यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मेव्यपगतः ॥' [2]
>
> —नीतिशतक

श्रीसूर कहते हैं—

> 'अब अति पंगु भयौ मन मेरौ ।
> गयौ हो निर्गुन उपदेसन भयौ सगुन कौ चेरौ ॥
> जो कछु कह्यौ ज्ञान-गाथा सो तुमहिं न परस्यौ नेरौ ।
> मैं सठ बार कियौ सो यौं ही कह्यौ-सुन्यौ तैंसह केरौ ॥

---

१ जो दूध दुहने, दही मथने, कूटने, लीपने, झूलने, बालकोंके रोने-धोने और बुहारने आदिके समय भी प्रेमपूर्ण गद्गद् कंठ और अनुरक्त बुद्धिसे भगवान्‌का यशोगान करती हैं वे भगवान् श्रीकृष्णमें ही अपना मन लगाये रहनेवाली व्रजकी स्त्रियाँ धन्य हैं ।

२ जब मैं थोड़ा-सा ज्ञान प्राप्तकर हाथीके समान मदान्ध हो गया था, उस समय मेरा मन 'मैं ही सर्वज्ञ हूँ' ऐसा सोचकर घमंडमें चूर हो रहा था परंतु जब विद्वानोंके पास बैठकर कुछ-कुछ ज्ञान प्राप्त किया तो 'मैं मूर्ख हूँ' ये समझनेके कारण ज्वरके समान मेरा दर्प दूर हो गया ।

मैं जान्यौं नहिं प्रेम सु पलभरि ज्यौं चरमास बसेरौ ।
'सूर' स्याम पै माग्यौ दीजै छोरि जोग कौ बेरौ ॥"

अथवा—

मैं ब्रज-बासिनि की बलिहारी ।
जिनके संग सदाँ क्रीड़त हैं श्रीगोवरधनधारी ॥
किन्हूँ के घर माखन चोरत किन्हूँ के सँग दानी ।
किन्हूँ के सँग धेनु चरावत हरि की अकथ-कहानी ॥
किन्हूँ के सँग जमुना के तट, बंसी-टेरि सुनावत ।
'सूरदास' बलि-बलि चरननि की पै सुख नित मोहिं भावत ॥"

—सूरसागर

६६

उद्धव-अभिलाषा-कथन

धूरि[1]—धूलि, रज, रेणु । जीवन-मूरि—संजीवनी बूटी, जिलानेवाली जड़ी । अत्यंत प्रिय वस्तु । जीवन औषधी ।

धूरि और जीवनमूरि शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

है उमड़ अंचल भरि पौढ़ति सबै 'धूरि भरि देह ।

—सूरदास

रामदास' को ठाकुर गिरिधर, जन-जन जीवन-मूरि ॥

—रामदास

---

१ ब्रजरजकी—धूरिकी महिमा नागरीदासजीने बड़ी उत्तम वर्णन की है जैसे—

"जदपि न्हात न मर्द-पति जाति ब्यार है पौनि ।
तदपि न तीरथ-जल कोऊ ब्रजकी धूरि समौनि ॥"

—नागरसमुच्चय

कविवर रसखानजी भी कुछ ऐसी चाहना करते हुए फर्माते हैं—

"मानुष हौं तो वही रसखानि बसौं ब्रज गोकुल-गाँव के ग्वारन।
जो पसु हौं तो कहा बस मेरो चरौं नित नंद की धेनु-मझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को जो धर्यो कर छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी-कूल-कदंबकी डारन॥

—सुजानरसखान

श्रीहठीजी कहते हैं—

गिरि कीजै गोधन मयूर नव कुंजन को
पसु कीजै महाराज नंद के बगर को।
नर कीजै तौन जौन राधे-राधे नाम रटै
तट कीजै बर कूल-कालिंदी-कगार को॥
इतने पै जोई कछु कीजिये कुँवर कान्ह
राखिये न आन फेरि 'हठी' के झगर को।
गोपी-पद-पंकज-पराग कीजै महाराज,
तृन कीजै रावरेई गोकुल-नगर को॥

—राधासुधाशतक

परम प्रेमी रसिक किशोरीजी कहते हैं—

'कदम-कुंज ह्वै हौं कबै श्रीवृंदावन-माँहि।
'ललितकिसोरी' लाड़िले बिहरैंगे तिहि छाँहि॥



"सुमन-वाटिका बिपिन में ह्वै हौं कब मैं फूल।
कोमल कर दोउ भावते धरि हैं बीनि दुकूल॥
मिलि है कब अँग छार ह्वै श्रीबन-बीथिनि धूरि।
परि हैं पद-पंकज पिया मेरी जीवन-मूरि॥



"कब कालिंदी-कूल की ह्वै हौं तरुवर डार।
ललितकिसोरी लाडिले झूलैं झूला डार॥"

—रसुरसकलित

कृष्णगढ़के महाराज श्रीनागरीदासजीने भी कुछ परम प्रेममयी अभिलाषाएँ की हैं, जैसे—

"कब वृंदावन-धरनि में चरन परैंगे जाइ।
लोटि धूरि धरि सीस पै कछु मुखहू में पाइ॥



पिक बोलैं कोकिल कुहुँक, मोर-वृंद अपार।
ऐसे रस कबहि निकट कब मिलिहौं बहि-पसार॥"



"कबै सुकत मों भौर ज्यौं फिरौं मद-गज-गात।
रस चाखी पीवैं चोख, मिला-लपट-मंदरात॥
कब कुनजाई होइगी मोमैं बिरह अपार।
रोइ-रोइ उठि दौरि हौं कहि-कहि नंदकुमार॥"



"नैन मूँदें बकबार बढ़ छिन-छिन बेठि उसास।
हँसि अँधेरी कोठिरी गावत सुयश-उपास॥"



"चौंकि चकित चौंकि तें भाजत बधिर सुधि-नाहिं।
पूछति हौं फिरि हौं कहाँ खग मृग तरु, बन-माहिं॥



हेरत हेरत थकि हौं कहि-कहि स्याम सुजान।
फिरत गिरत बन-सघन में यों ही छुटि हैं प्रान॥"

—नागरसमुच्चय

सुहृद व्यासजीकी अभिलाषा है कि भगवन्—

"ऐसो कब करिहौ मन मेरो।
कर करवा हरवा गुंजन को कुंजन-माँहिं बसेरो॥
भूख लगे तो माँगि खाइहौ गनौं न साँझ-सबेरो।
ब्रज-बासिन के टूक जूँठ अरु घर-घर छाक महेरो॥"

—व्यासजीकी वाणी

रसिक अनन्य सहचरिशरणजीकी अभिलाषा है—इच्छा है—

"पिक-पति मोर-मधु-परिकैन इमि सिखि कबै बनौगे।
रति-कुंजित सुर-भरित-भूमि जिमि रस उर कबै धरौगे॥
चकरत धुंग मीन की जैसें तैसें कबै ढरौगे।
'सहचरिसरन' मराल मान-सर-मन इमि कबै रहौगे॥

'नहिं करि बचन बिहँसि सोंधिपर कर कों कबै धरौगे।
कमलाकर चित-चोर महामत चित कों कबै हरौगे॥
हरषि हँसारी आँखिन में सुख-सुखमा कबै भरौगे।
'सहचरिसरन' रसिक भावित सुखि सोहन कबै करौगे॥"

—सरसमंजावली

परम प्रेमी जायसी कहते हैं—

"यह तन जारौं छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै कंत धरै जहँ पाव॥"[1]

—पद्मावत

---

१ जायसीके इस सुन्दर भावपर किसी भक्तप्रवरकी कुछ ऐसी ही अभिलाषामयी सरस सूक्ति याद आ गयी है, जैसे—

पंचत्वं तनुरेति भूतनिवहा' स्वांशेविशन्तु स्फुटं-
धातारं प्रणिपत्य हंत शिरसा तत्रापि याचेवरं।

उर्दू साहित्यके महारथियोंने भी अपने-अपने प्रेमियोंसे अमूल्य अभिलाषाएँ की हैं, उनमेंसे कुछ नमूने यहाँ दिये जाते हैं—

'मुँह में गर पानी चुआवे यार अपने हाथ से।
मर्ग की तल्ख़ीसे शीरी-तर कोई शर्बत नहीं॥'[1]

अथवा—

"आँखें मेरी तलुओं से वह मल जाय तो अच्छा।
यह हसरते पा बोस निकल जाय तो अच्छा॥"[2] —ज़ौक़

तद्वापीषु पयस्तदीयमुकुरे ज्योतिस्तदीयाङ्गन—
व्योम्नि व्योम तदीयवर्त्मनि धरा तत्तालवृन्तेऽनिलः॥

—सुभाषित

अर्थात्, यह नश्वर-भूत शरीर पञ्चतत्त्वोंके पृथक्-पृथक् स्वरूपोंमें लय हो तो कृपाकर इतना कीजियेगा कि जल-विभाग तो उस सुन्दर सरोवर में चला जाय जिसमें प्रियतम स्नान करता हो—पान करता हो और तेज तत्त्व उस दिव्य दर्पणमें लीन करना जिसमें वह अपना मुखड़ा देखता हो। आकाश-तत्त्व उसके घरका आँगन बन जाय जिसमें वह रहता हो। पृथ्वी-तत्त्व उसके मनोहर मार्गमें मिल जाय जहाँ कि वह धीरे-धीरे पैर धरता हो। इसी प्रकार वायु-तत्त्व उस पंखेकी हवामें परिवर्तित हो जाय जिससे कि वह अपने श्रम-सीकर सुखाता हो।

१ मरते समय अगर मेरा प्यारा मित्र, अपने हाथसे जरी पानी मेरे मुँहमें चुआ दे—टपका दे तो मौतकी कड़ुवाहटसे बढ़कर मेरी समझसे दुनियाँमें सचमुच कोई मीठा शर्बत नहीं।

२ वह मेरा प्यारा मरते समय भी आकर अपने पैरके तलुएसे मेरी अभागिनी आँखें आकर मल जाय तो बहुत अच्छा हो क्योंकि किसी तरह मेरे दिलसे उसके पैर चूमनेकी हसरत तो निकल जाय,—इच्छा तो पूर्ण हो जाय।

"दफ़न करना मुझ को कूचए-यारमें।
ख़ाक बुलबुल की बने गुलज़ार में॥" —कोई शायर

आँखें खुली रही हैं मरने के बाद मेरी।
हसरत य था कि उसको मैं एक निगाह देखूँ॥ —मीर

निकल जाय दम तेरे कदमों के नीचे।
यही दिल की हसरत यही आरज़ू है॥ —कोई शायर

एक और—

“कालिंदी तीर हो जमुना का तट हो।
अधर मुरली हो माथे पर मुकुट हो॥”
“खड़े हों आप एक बाँकी अदा से।
मुकुट झोंके में हो झोंके हवा से॥”
“गिरे गरदन झुककर पीत-पट पर।
झुकी रह जाँय ये आँखें मुकुट पर॥”
“दुलाये की पवन हो मुरली पर एक।
पड़े उट्ठे हुए जहाँ सिंगार के फूल॥”
मिले चलने को लकड़ी ब्रज के वन की।
लिपट भी जाय धूली या मरुन की॥”
अगर इस तौर हो अंजाम मेरा।
तुम्हारा नाम हो औ काम मेरा॥ —कोई भक्त

६७

द्रुम—वृक्ष, तरुवर, रूख, पेड़।

‘वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः।
अनोकहः कुटः सालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः॥”
—अमरकोश २।४।५

गुल्म—वृक्ष विशेष, झाड़ी, शाखा-शून्य वृक्ष, ठूँठ। यथा—

अप्रकाण्डे स्तम्बगुल्मौ ।’
—अमरकोश २।४।९

अप्रकाँडे—शाखारहित वृक्षकी परिभाषा लिखते हुए 'भरत' मामान् लिखते हैं, कहते हैं—

'भविद्यमानप्रकाण्डस्तनुप्रकाण्डो वा बहुपत्रवान् मल्लीखिरंटी—मलकमलधरापीरणादिर्मूलाधारस्य पूर्वभागः प्रकाण्डः॥ —भरतमते

अथवा—

गुच्छगुल्मन्तु विविध तथैव तृण जातयः। —मनुः

गुल्मकी व्याख्या—परिभाषा लिखते हुए 'कुल्लूकभट्ट' कहते हैं। यथा—

"यत्र लतासूत्रा भवति न च प्रकाण्डानि ते गुच्छा मल्लिका-द्याः गुल्मा एकमूलाः सघातजाताः।" —अमरकोश टीका

लता—बेल, बल्ली बल्लरी। लता वह वृक्ष विशेष होता है जिसकी लंबाई तो बहुत हो, परंतु बिना आश्रय कहीं न रह सके। यह प्राय सूत या डोरीके मानिंद पतला होता है और बिना सहारे ये नहीं बढ़ता या नहीं बढ़ती। अमरकोशमें इसके नाम यों लिखे हैं, जैसे—

"वल्ली तु व्रततिर्लता।

—अमरकोश २। ४। ९

बेली—बेल, बल्ली बल्लरी। वनस्पतिशास्त्र अनुसार वे कोमल छोटे पौधे जिनमें काण्ड, अर्थात् मोटे तने नहीं होते और अपने बलपर ऊपरकी ओर उठकर नहीं बढ़ सकते[1]।

---

१ न प्रकाण्डः स्कंधो यस्य स अप्रकांड।

२ श्रीनंददासजीने इस छंदमें—लता और बेली दोनों समानार्थवाची शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है जो कि उचित-सा प्रतीत नहीं होता। अथवा श्रीनंददासजीने इन शब्दोंका विभिन्न अर्थोंके पालनस्वरूप प्रयोग किया हो तो यह बात विचारणीय है। अमरकोशकारने तो इन दोनों शब्दोंको समानार्थवाची ही माना है जैसा कि उदाहरणस्वरूप लिखा जा चुका है। पद्मचन्द्रकोषमें एक बेल शब्दका अर्थ 'उपवन' और लिखा है परंतु इसकी पुष्टिमें न तो कोई

द्रुम, गुल्म, लता, बेली आदि सरस शब्दोंके सुन्दर प्रयोग, जैसे—

'अधिक अपार होत मैथिल की द्रुम' ता किय सिकसावल। सूरदास—

उदाहरण ही मिला है और न इसकी व्युत्पत्ति। हेमचन्द्रने अपने कोषमें इस अर्थका प्रयोग करते उदाहरणमें लिखा है—

लतोपान्त्यां वने वेल्लमारामः कृत्रिमे वने।

आपटे महोदयने अपनी संस्कृत-अंग्रेजी डिक्शनरीमें—कोषमें वेल्ल शब्दका 'उपवन' अर्थके अनन्तर—'कुंज' अर्थ और माना है। अतः अर्थ ये कुछ हो उक्त दोनों अर्थोंकी तो यहाँ संगति नहीं बैठती परंतु लताका यदि बेली और 'बेलि' का—बेलीका छोटी-छोटी बेलें जैसे चमेली आदिकी अथवा पृथ्वीपर फैलनेवाली बेलें जैसे कुम्हड़ादिकी अर्थ मान लें तो फिर पुनरुक्ति दोष न आकर अर्थकी संगति बैठ जाती है। विशेष विज्ञ पाठकोंके ऊपर निर्भर है। एक महानुभावका कहना है कि लता पुष्पवती होती है और बेल नहीं यह बात भी नहीं जँचती। अपने लिखे कि लता कहते हैं उसमें भी फूल हैं और बेलमें भी। एक महानुभावका कहना है—गुल्म और लता एक ही शब्द है पृथक्-पृथक् नहीं और इसका अर्थ 'झाड़' जो कि अवश्य एक वृक्षविशेष होता है। परंतु उदाहरण या प्रमाण देनेमें आप भी असमर्थ हैं। श्रीनंददासजीकी तरह लता और बेलीका साथ-साथ प्रयोग भी विशेष नहीं मिलता केवल 'ग्वाल' कविने अपने भ्रमरगीतमें इन दोनों शब्दोंका साथ-साथ प्रयोग किया है। जैसे—

नेकी या बनाओ तो बनाओ बनपाल ह्वै के
नाच नाच गाइ गाइ गुनन सुनाऊँ मैं।
लता द्रुम बेली रँगरेली जो करो तौ करौ—
रावरे ही आँगन में पुष्प-हार छाऊँ मैं॥
जो पै रज-रेनुका बनाओ मन भाओ यही—
तो पै पद-पंकज को सीस पै चढ़ाऊँ मैं।
मेरी भार पाऊँ समझाऊँ श्री राधेरौनी
ग्वाल दे निकुंजन को देवोई कहाऊँ मैं॥

—पुरुषोत्तमदासजीसे प्राप्त

"'गुल्म' 'लता' है रहिए हरि सौं तन रंजित ब्रज रेनु।

नागरीदास

"ज्यौं 'किधौं' ग्रीषम-धातु धरौं तौ तरुवर कपर्होंहि।"

—सूरदास

कुछ ऐसी ही शुभ चाहना श्रीमद्भागवतमें उद्धवजीने भी की है, जैसे—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥[1]

—श्रीमद्भागवत १० | ४७ | ६१

अथवा—

"वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥"[2]

—श्रीमद्भागवत १० | ४७ | ६३

नागरीदासजी कहते हैं—

ऊधो बार-बार सिर नावत।
नंद-गाँव ब्रज, पुलकि विह्वल ह्वै कर चौहन सौं छुवत॥

---

१ मैं इन गोपियोंकी-चरण-रेणु-रंजित वृंदावनमें उत्पन्न गुल्म लता और औषधोंमेंसे कोई भी हो जाऊँ—बन जाऊँ तो बड़ा उत्तम हो क्योंकि इन्हों (गोपियों) ने छोड़े जानेमें असमर्थ अपने पति पुत्रादिक और स्मार्त-मार्गका त्याग कर वेदोंद्वारा ढूँढ़े जाने योग्य भगवान् कृष्णकी पदवीको प्राप्त की।

२ मैं नंद और व्रजकी इन सब स्त्रियोंकी चरण-रजकी बारंबार वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके गाये गये 'हरिगीत' त्रिभुवनको पवित्र करनेवाले हैं।

प्रेम गोपी तुम रँगी श्याम रँग तज्यो सकल चित चैन ।
पुरुष कहा है रहिहै इहि यौं तब रँगित ब्रज-रैन ॥
प्रेम-भक्ति-रस सुधा पियो सो अब चित अँचवत न आइ ।
तुम मेरी गुरु कह्यौ उमहुँ सब परस तिहारे पाँइ ॥
यौं कहि कह्यौ ऊधौ नागर को फेरि सकत नहिं पीठि ।
'नागर' मन क्यों नाय राखिये ऐंम पहुँचायो नीठि ॥

—नागरसमुच्चय

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्रजी कहते हैं—

'व्रज के लता-पता मोहिं कीजै ।
गोपी-पद-पंकज-पावन की रज जामें सिर भीजै ॥
आवत जात कुंज की गलियन रूप-सुधा नित पीजै ।
श्रीराधे राधे मुख यह वर 'हरीचंद' को दीजै ॥

—प्रेममालिका

५८

साधु-संग—श्रेष्ठ पुरुषोंका संग, सोहबत, अच्छे मनुष्योंका साथ, उत्तम सज्जनोंका साथ। पारस—एक कल्पित पत्थर जिसकी बाबत कहा जाता है कि यदि उससे लोहा छुलाया जाय तो सोना हो जाय। संस्कृतमें इसका नाम—'स्पर्शमणि' कहते हैं। कंचन—सुवर्ण, सोना यथा—

स्वर्णं सुवर्णं कनकं हिरण्यं हेमहाटकम् ।
तपनीयं शातकुंभं गांगेयं भर्म कर्बुरम् ॥'
चामीकरं जातरूपं महारजतकांचने ।
रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम् ॥

—अमरकोश २ । ९ । ९४, ९५

साधु-संग, पारस और कंचन आदि सरस शब्दोंका सुन्दर प्रयोग—

'साधु-संग कबहूँ ना कीन्यौं एकन पंथे हरि।'

—नाभादास

'पारस' के संग लोहा मिलायौ।
सो लोहा 'कंचन' हो निसरयौ॥

—कबीरदास

सत्संगति महिमाका वर्णन करते हुए भागवतमें महर्षि कहते हैं—

'तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥'[1]

—श्रीमद्भागवत १ । १८ । १३

आगे चलकर उद्धवके प्रति भगवान् कहते हैं—

'न रोधयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा॥
व्रतानि यज्ञश्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः।
यथावरुन्धे सत्सङ्गः सर्वसङ्गापहो हि माम्॥'[2]

—श्रीमद्भागवत ११ । १२ । १-२

---

१ यदि भगवान्‌में आसक्त लोगोंका क्षणभर भी संग प्राप्त हो तो उससे स्वर्ग और मोक्षतककी तुलना नहीं हो सकती फिर अन्य अभिलषित पदार्थोंकी क्या बात ?

२ सम्पूर्ण आसक्तियोंको दूर करनेवाला सत्संग मुझे जिस प्रकार अपने वशमें करता है वैसा न योग न सांख्य न धर्म न स्वाध्याय न तप, न त्याग न इष्टापूर्त, अर्थात् पशुओंकी भलाईके कार्य न दक्षिणा व्रत न यज्ञ न वेद न तीर्थ और न नियम ही कर सकते हैं।

पद्मपुराणमें कहा है—

> भाग्योदयेन बहुजन्मसमार्जितेन
> सत्सङ्गमेव लभते पुरुषो यदा वै।
> अज्ञानहेतुकृतमोहमहान्धकार
> नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः॥[1]
>
> —पद्मपुराण ६। १९। ७९

सत्संगकी मधुर महिमा गाते हुए अध्यात्मरामायणमें लिखा है—

> भक्तानां मम योगिनां सुविमलस्वान्तातिशान्तात्मनां
> मत्सेवाभिरतात्मनां च विमलज्ञानात्मनां सर्वदा।
> संगं यः कुरुते सदोद्यतमतिस्तस्यैव नित्यानन्यधी-
> र्मोक्षस्तस्य करे स्थितोऽहमनिशं दृश्यो भवे नान्यथा॥[2]
>
> —अध्यात्मरामायण ३। ४। ५५

भर्तृहरिजी कहते हैं—

> 'जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यं
> मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति।

---

१. जब बहुत जन्मके पुण्य-पुञ्जसे भाग्योदय होने पर पुरुषको सत्सङ्गकी प्राप्ति होती है, तब ही अज्ञानजन्य मोह और मदरूप अन्धकारका नाश कर विवेकरूप सूर्य उदय होता है।

२. जो तत्परतापूर्वक साधु-सेवामें अनन्य बुद्धि रखता हुआ मेरे भक्तों का निर्मल और शान्तचित्तवाले योगियोंका मेरी सेवा-पूजामें अनुरक्त भक्तोंका और निर्मल ज्ञानियोंका सदा ही संग करता है उसके मोक्ष करतल-गत रहता है तथा मैं अहर्निश उसकी दृष्टिका विषय बना रहता हूँ, अन्य किसी उपायसे मैं दर्शन नहीं दे सकता।

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥'[1]

—नीतिशतक

अथवा—

'तत्त्वं चिन्तय सततं चित्ते
परिहर चिन्तां नश्वरवित्ते ।
क्षणमिह सज्जनसंगतिरेका
भवति भवार्णवतरणे नौका ॥'[2]

—कस्यचित्

सत्संगतिपर ब्रज-भाषा-साहित्याकाशके सुन्दर सूर्य श्री 'सूर' कहते हैं—

जा दिन संत-पाहुने आवत ।
तीरथ कोटि असनान करें फल, दरसन ही तें पावत ॥
नेह नयो दिन-दिन-प्रति उनकौ चरन-कमल चित लावत ।
मन-बच-क्रम और नहिं जानति सुमिरति औ सुमिरावत ॥
मिथ्यावाद उपाधि-रहित है बिमल-बिमल जस गावत ।
बंधन-करम-कठिन जे पहिले सोऊ काटि बहावत ॥
संगति रहै साधु की अनुदिन भव-दुख दूरि नसावत ।
'सूरदास' या जनम-मरन तें तुरत परम-गति पावत ॥

—सूरसागर

---

१ सत्संगति पुरुषोंका क्या उपकार नहीं कर सकती, वह (सत्संगति) बुद्धिकी जड़ताको हरती है वाणीमें सत्यका संचार करती है सम्मान बढ़ाती है, पापको दूर करती है चित्तको आनन्दित करती है और सम्पूर्ण दिशाओं-में कीर्तिका विस्तार करती है ।

२ चित्तमें निरन्तर तत्त्वका चिन्तन करो या न करो, धनकी चिन्ता भी छोड़ो या न छोड़ो क्योंकि सज्जनोंकी एक क्षणकी संगतिरूप नौका ही संसार सागरसे पार करनेको काफी है ।

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

बिन सतसंग बिवेक न होई राम-कृपा बिन सुलभ न सोई।
सत-संगति मुद-मंगल-मूला सोई फल सिधि सब साधन फूला।[1]
सठ सुधरहिं सत संगति पाई पारस-परसि कुधातु सुहाई।
सब कर फल हरि-भगति सुहाई सो बिन संत न काहू पाई।
अस बिचार जोइ कर सतसंगा राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ॥[2]
तात स्वर्ग अपवर्ग-सुख धरिय तुला एक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि जो सुख लव सत-संग ॥[3]
बिन सत-संग न हरि-कथा तेहि बिन मोह न भाग।
मोह गएँ बिन राम-पद होहि न दृढ़ अनुराग ॥
बिन सतसंग भगति नहिं होई, ते तब मिलें द्रवै जब सोई।[4]
अजहूँ तवै श्रीमत्यासु राघव साधु संगति पाइये।
जेहि जम-त्रास समगमादिक पाप-रासि नसाइये ॥
जिनके मिलें सुख-दुख-समान अमानतादिक गुन भए।
मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध तें सहजहिं गए ॥

—विनयपत्रि

परम रसिक नागरीदासजी कहते हैं—

सब सुख सौंज-भरनै भर्यें।
और ठौर न कहूँ आनँद ढूँढ़ई कै मर्यें ॥
दुख-मूल प्रवृत्ति-मारग कहि न मानत कोइ।
सुख राधा बिहरि बिहारि को मन जानि है दुख सोइ ॥
सतसंग अंबुज मन-सरोवर कीरतन-सुख-धाम।
कीजिये हरि बसि तिन को सेवत नागरी दास ॥

●

---

१ रामायण बालकांड।
२ रामायण उत्तरकांड।
३ रामायण सुन्दरकांड।
४ रामायण उत्तरकांड।

"मन यह नीच संगी नीच ।
उच्च-पद कौं चहत नाहीं जदपि सिखरी नींच ॥
मदन पाप कौं गमन कराही ज्यौं जमी रस कीच ।
प्रगट अति नहिं रुकत रोकें, ज्यौंम पूरे की मींच ॥
मिरत्ज जाही रंग आपुन होत ताही रंग ।
देहु 'नागरिदास' कौं पाऊँ प्रभू सतसंग ॥

*

"बिन सतसंग मति पतंग ।
फिरत डाँवाँडोल मन ज्यौं बिन लगाम तुरंग ॥
कबहुँ गिरि-गिरि उठत अति सम चपल डोल उतंग ।
कबहुँ सूरत भ्रमत आतुर उपज अग-अनंग ॥
कहाँ तप व्रत नेम संजम कहा न्हायें गंग ।
'नागरीदास' बिना साधन सकल साधन भंग ॥

—नागरसमुच्चय

कबीर साहब फ़र्माते हैं—

'कबीर' संगति साधु की कदै न निष्फल होइ ।
चन्दन होसी बावना नीम न कहसी कोइ ॥"

*

"कबीर संगति साध की बेगि करीजै जाइ ।
दुरमति दूरि गँवाइसी देसी सुमति बताइ ॥"

*

मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगन्नाथ ।
साध-संगति हरि-भगति बिन कछू न आवै हाथ ॥

*

"मेरे संगी दोइ जणे एक वैष्णौ एक राम ।
वो है दाता मुकति का वो सुमिरावै नाम ॥"

*

"कबीर सोइ दिन भला, जा दिन संत मिलाहिं।
अंक भरे भरि-भेंटिया पाप सरीरौ जाहिं॥"



"कबीर' चन्दन का बिड़ा बैठ्या आक-पलास।
आप सरीखा कर लिया जे होते उन पास॥"

—कबीर-ग्रन्थावली

"संगत कीजै संत की, जिनका पूरा मन।
अनतोलैं ही देत हैं नाम सरीखा धन॥



"कबीर' संगत साध की हरै और की व्याधि।
संगत बुरी असाध की आठों पहर उपाधि॥"[1]



"कबीरा' संगत साधकी जौ की भूसी खाइ।
खीर-खाँड़ भोजन मिलै साकट-संग न जाइ॥"



कबीरा' संगत साध की ज्यों गंधी का बास।
जो कुछ गंधी दे नहीं तौ भी बास-सुबास॥"



"रिद्धि-सिद्धि माँगू नहीं माँगू तुम पै येह।
निसि-दिन संगति साधकी कह 'कबिरा' मोहिं देह॥



---

१ कबीर साहबका उक्त दोहा—थोड़े अन्तरसे गोस्वामी तुलसीदासके नामसे भी मिलता है। जैसे—

"तुलसी संगत-साधु की, हरै और की व्याधि।
संगति बुरी है नीच की, आठों पहर उपाधि॥"

परंतु यह दोहा 'तुलसी-दोहावली' या तुलसीसतसईमें नहीं है।

"राम बुलावा भेजिया दिया 'कबीरा' रोइ।
जो सुख साधु-संग मों सो बैकुंठ न होइ॥"



"एक घड़ी आधी घड़ी आधी हूँ सें आध।
'कबीर' संगत साध की कटै कोटि अपराध॥"

—संतबानीसंग्रह

सुन्दरदासजी कहते हैं—

"प्रीति प्रचंड लगै परब्रह्महिं और सबै कछु लागत फीकौ।
सुद्ध हृदै मन होइ सो निरमल द्वैत प्रभाव मिटै सब जीकौ॥
मोहरुषाँय अनंत चलै यहँ 'सुंदर' जैसें प्रगट सरीकौ।
ताहि तें आँखि लगी निसि-बासर साधु को संग सदाँ अति नीकौ॥"



तात मिलै, पुनि मात मिलै सुत-भ्रात मिलै जुवती सुखदाई।
राज मिलै गज-बाज मिलैं, सब साज मिलैं मन-बाँछित पाई॥
लोक मिलै सुर-लोक मिलै बिधि-लोक मिलै बैकुंठहु जाई।
'सुंदर' और मिलै सबही सुख संत-समागम दुर्लभ भाई॥

—सुन्दरविलास

अन्तमें श्रीमज्जीवगोस्वामीजीकी उद्धव प्रति उक्ति भी देखिये और मनन करिये, जैसे—

"तं श्रीमदुद्धवं वन्दे कृष्णप्रेष्ठवरोऽपि यः।
गोपीपादाब्जधूलिस्पृक् तृणजन्माप्ययाचत॥"[1]

—श्रीमद्भागवत वैष्णव तोषिणी टीका

---

१ मैं उन कृष्णके परम श्रेष्ठ सखा उद्धव—भक्तकी वंदना करता हूँ जो कि गोपी-पाद-पद्म-धूलि-रंजित तृण होना चाहते हैं।

९९

उद्धवका मथुरा प्रत्यागमन

मग—मार्ग, रास्ता, डगर, बाट, राह।

अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः ॥

—अमरकोष २ । १ । १५

अभिलखि—अभिलाष, आकांक्षा, कामना, आशा।

इच्छाकांक्षा स्पृहेहा तृड्वाञ्छालिप्सामनोरथाः।

कामोऽभिलाषस्तर्षश्च सोऽत्यर्थं लालसा द्वयोः ॥

—अमरकोष १ । ७ । २७, २८

मग और अभिलखि शब्दके सुन्दर प्रयोग, यथा—

मिलत ही हरि मग लखि रहीं मैं तुम सब मिलत सबेरें।

—मीराबाई

जिन्हे लोक बेदौ अभिलखि कहि मन को अभिलाष।

—श्यामसुन्दरदास

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुक कहते हैं—

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च।

गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥[1]

—श्रीमद्भागवत १ । ४७ । ६४

रसरूपजी कहते हैं—

ज्यों ज्यों न प्रेम बढ़ित है पियत बार-बार घूम।

कबहुँ न पावत उद्धव नाके नाहीं पावत घूम ॥

—उपालम्भशतक

---

१ इस प्रकार उद्धवजी गोपियोंसे यशोदासे और नन्द नंदसे आज्ञा ले और गोपोंसे मिलकर मथुरा जानेके निमित्त रथपर चढ़े।

व्रज-भाव-भावनाके लाडिले स्वर्गीय रत्नाकरजीने उद्धवके मथुरा प्रत्यागमनपर बड़ी सुमधुर सूक्तियाँ कही हैं जैसे—

'धाई जित-तित तैं बिदाई-हेतु ऊधव की
गोपी-भरी आरति सम्हारति न साँसुरी।
कहै रतनाकर मयूर-पच्छ कोऊ लिए
कोऊ गुंज-अंजली उमाहै प्रेम-आँसुरी॥
भाव-भरी कोऊ लिए रुचिर सजाव दही
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत-पट नंद, जसुमति नवनीत नयौ
कीरति-कुमारी सुरबारी दई बाँसुरी॥'[1]



'कोऊ जोरि हाथ कोऊ नाइ नम्रता सौं माथ
भाषन की लाख लालसा नहिं जात हैं।
कहै रतनाकर चलत उठि ऊधव के,
कातर ह्वै प्रेम सौं सकल महि जात हैं॥
सबद न पावत सो भाव उमगावत जो
ताकि-ताकि आनन ठगे-से रहि जात हैं।

१ निम्न कवि कहते हैं—

जात ही जसोदा-नंद जू सौं अनुशासन लै
बड़े ही उमाहन सौं मिले हैं सम्मान सौं।
नित्य ज्यौं सुरुचि लै सुरेस्वर मर्दन कौ
रथ पै चढ़े हैं ऊधौ बड़ सनमान सौं॥
उपमैन-हेत बहु भेंट दई नंदराइ
नैन-भरि कही भलो कहियो मो कान्ह सौं।
आसन की ओप आप लौं हम धारि रहे
वेगि व्रज आइयौ पै सारे पकवान सौं॥

रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं॥

●

'दाबि-दाबि छाती पाती-लिखन लगायौ सबै,
ब्यौंत लिखिबे कौ पै न कोऊ करि जात है।
कहै 'रतनाकर' फुरति नाहिं बात कछू,
हाथ धर्यौ हीतल थहरि थरि जात है॥
ऊधौ के निहोरैं फेरि नैंकु धीर जोरैं पै
ऐसौ अंग-ताप कौ प्रताप भरि जात है।
सूखि जाति स्याही लेखिनी कैं नैंकु डंक लागैं
अंक लागैं कागद बररि बरि जात है॥

●

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर-चाँपि चले,
कोऊ चले कछुक अलापि हलबल सैं।
कहै 'रतनाकर' सुदेस तजि कोऊ चले
कोऊ चले कहत संदेस अबिरल सैं॥
आँसु चले काहू के सु काहू के उसास चले
काहू के हियै पै चंद्रहास चले हल सैं।
ऊधव के चलत चलाचल चली यौं चल-
अचल चले औ अचले हू भए चल सैं॥

●

'पीन्हौं प्रेम-नेम-गरुआई-गुन ऊधव कौ
हिय सौं हमेस-हरुआई बहिराइ कैं।
कहै 'रतनाकर' त्यौं कंचन बनाइ काय
ग्यान-अभिमान की तमाई बिनसाइ कैं॥
बातनि की धौंक सौं धमाइ चहूँ कौरनि सौं
निज बिरहानल तपाइ पिघिलाइ कैं।

गोप की बापुरी नैन-बूँदी के सहारें मात्र
चल-चित्त पारी की असँभ मुरझाइ कै ॥[1]

'गोपी ग्वाल नंद जसुदा सौं तौ बिदा ह्वै उठे,
उमगत न पीड़ पै उसासन लगत है।
कहै 'रतनाकर' सँभारि सारथी पै नीठि,
दीठिनि-बचाइ चुपची चोर ज्यौं लगत है ॥
कुंजन की कूल की कलिंदी की रुरौं-दसा
देखि-देखि आँसू औ उसास उमगत है।
रथ तें उतरि पथ-पावन जहाँ-ही-तहाँ
बिकल-बिसूरि धूरि-लोटन लगत है ॥

'सूखे जोग-जैंन नैन-नैनहि-निहारि ऊधौ
सकुचि सिमटे उर-अंतर हरास-सौं।
कहै 'रतनाकर' प्रभाव सब ऊँचे भए
पूरे भए प्रेम-नेम उरत उदास-सौं ॥
मींजि दिशा मोनन ज्यौं मंच उर में उमोक
कीन्यौ मौन मौन बिन हिय के हुलास-सौं।
बिथकति साँस-सौं चलन लगि जात फेरि-
आँसू-सौं गिरत पुनि उठत उसास-सौं ॥
—उद्धव

१ कविवर ग्वालजी कहते हैं—
भ्रमरे कहे हैं हौं गयो हो ब्रज-बासिन पै
देखतहि ही मोहि कियो अनँद-अपार है।
कहे हैं बिहारी बात गात में मभूकें उठे
परत बरन की बयार ज्यौं अँगार है ॥
'ग्वाल कवि' कहै आगी ल्पट रवामिनि की
दौरयो मैं तहाँ तें सोहू हारयो फुकार है।
गोपी-बिरहागिनि में जोग उड़ि गयो ऐसें
ईहैं उड़ि जात परैं पावक में पारा है ॥

७०

राजत—सुशोभित बैठे। रस-भरे—रससे भरे, प्रेम-संयुक्त, मीठे मधुर, चरपटे। छबिले—प्रिय, प्यारे, सुघारे, नटखट।

राजत, रस-भरे और छबिले शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

'राजत' कौन है सुभग बाँसों मनो सूर्य है खड़े।

—रसखानराय

'रस-भरे' तारी कवि कजरारे नैनों पीय परे री मधुकर।

—मुरारीदास

'रहि-रहि मैन के 'छबिले' जिय पैठी हलराव।

—सूरदास मदनमोहन

श्रीमद्भागवतमें उक्त भावपर श्रीशुक कहते हैं—

कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम्।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात्॥

—श्रीमद्भागवत १० । ४७ । ६९

अर्थात् उद्धव, मथुरामें पहुँचकर, श्रीकृष्ण और बलरामको प्रणामकर तथा व्रज वासियोंकी भक्ति विह्वलता विशेष रूपसे प्रशंसा कर नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंट वसुदेवजी और महाराज उग्रसेनको देते हुए।

इसी भाव-भावपर सुकवि 'निज' जी कहते हैं—

या विधि सुकवि 'निज' नेह व्रज-वर्णन कौ
भावकर उद्धव मथुरा ही आए हैं।
राम-कृष्ण-पालित ललित मधुपुरी-माँहि
सभा-बीचि उग्रसेन हू को सीस नाए हैं॥

नंद की नजर है अनंद सों नृपति आगें
कृष्ण-बल जू के पग आँसुन सिंचाए हैं।
बंदि बसुदेव जू कों सब की कुसल कहि
बाकी जो रही सो आँखि हरि सुमिराए हैं॥
—गोपीप्रेमपीयूषप्रवाह

अथवा—

कछुक देरि करि कै विषम होस-हवास सम्हारि।
उद्धव बोल्यौ खीन सों हरैं हिया-पग-धारि॥
आँखिन मैं छायौ अनुराग जमुना को वह
उर मैं समायौ प्रेम पुंज को अँजोर है।
'नवनीत' प्यारे वा गरे मैं पाँसि-फाँसी परी
हरी मति मेरी देखि गोपिन को हाल है॥
मौन होत आली बात मुख तें कहत नाथ
लोग को सहारे लोगो आयौ ततकाल है।
कहा कहौं आप सों कृपाल गिरी मदनलाल
मन का हवाल कहिबे को का मजाल है॥
—नवनीत कवि

रत्नाकरजी कहते हैं—

'प्रेम-चित-चातुर की श्रम-कंचुकी कै दूरि
प्रेम-भग-भूरि प्रेम-भूरि सुख-सींची कै।
कहै 'रत्नाकर' सु प्रागिनि-निपीन भाव
अमित अनोंम-अपीन-पोषक पुनीची कै॥
धारि उर-अंतर ही मातृ-भूम धारि सबै
गोपी-विरहागिनि निरंतर जगीची कै।
आए कौकि कपट विभूति भस्म-आयमि की
कामिनि को रुचिर रसायन रसीची कै॥

आप चौरि अधिगत नयनें नैन रूखी जब
सब सुख-साधन की सूखी-सी जगन है।
कहै 'रत्नाकर' गौंपें गुन-गौरव कौ-
गरब-गली कौ परिपूरन पतन है॥
आप नैन-नीर पीर-सरित कमायें उर,
दीनता अधीनता के भार-सौं नमन है।
प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमरी मैं पूरि
जोग-गूदरी मैं अनुराग-सौ रतन है॥

ज्यौंही कछु कहन सँदेसौ लग्यौ त्यौं ही लग्यौ
प्रेम-पूरि उमगि गरे लौं चढ्यौ आवै है।
कहै 'रत्नाकर' न पाँह दिस पावें नेकु
ऐसौ रूप-हरम समेटि कढ्यौ आवै है॥
मधुपुरि-नायक कौ भेंटि कछु ज्यौंत गही
जाइ कहौ का कै न आँ पै चढ्यौ आवै है।
सारौ मग्यौ भूपति-भगीरथ-लौं ह्वौ तौ आप
साथ आयो सोई पुन्य-पाप चल्यौ आवै है॥
—उद्धवशतक

७१

भगवान् श्रीकृष्णसे उद्धवका गोकुल-वृत्तान्त-कथन

मूँठी—मुट्ठी, हाथकी वह मुद्रा—बनानेका 'ढंग' जो कि उँगलियोंको हथेलीपर मोड़नेसे—दबानेसे बनती है, किसी वस्तुके छिपानेकी एक क्रिया। अवलंब-दी—आश्रय मानते हैं, सहारा लेते हैं, शरण हैं। मेड़ो—गेरो, पगको, पेंचो डालो।

मूँठी, अवलंबाही और मेड़ो आदि सुन्दर शब्दोंके सरस प्रयोग, यथा—

'भरि मूँठी' माँटी मुख मेली, सखा कहत सब आवै।
—परमानन्ददास

'कृष्ण अनूप हे दमोदर, नाथ तुम जसकाँई।
—सूरदास

'गहि दोउ पाँइ साँमसुंदर तब पँजुक परसी 'भेली'।
—परमानन्ददास

कुछ ऐसा ही प्रेम-भरा उलाहना स्वर्गीय सत्यनारायणजी कविरत्नने भी दिया है, जैसे—

'माधव आप सदा के कोरे।
दीन-दुखी जो तुम कौं जाँचत सो दुहुँबिधि के भोरे ॥
बिनु मान या तुम सुभाय मैं कैसहु जानत नाहीं।
सुमिरि-सुमिरि मुकत उपरो दुख हिय आवत की छकछाँहीं ॥
भक्त करें तुम कौं जग-मोहन मोह न तुम कौं भावै।
करुना-निधि तुम कहें न एको-करुना-बिंदु सँभावै ॥
देखि दुख को देखि मुखौंही दरसी जग जन-माँहीं।
ऐसी हेर-फेर निज मूरत आपनो राखत सदाँ हीं ॥
माँखि-माँखि के गोपिन के जो तुम प्रभु चीर-चुराए।
भजि कहा रावा जो है बेटी द्रौपदि की पकरात ॥
रत्नाकर की मथत सुधा की कलस आप जो पायो।
मंद-मंद मुसिकात मनोहर, सो देवन कौं प्यायो ॥
सब भवन कुचलिया के जो केलि-प्रीत हरिदीप।
बड़ी दया परसाद दयानिधि सौं गजेंद्र कौं दीप ॥

● उक्तभावपर रसनिधिजी कहते हैं—
'सुमरत जग के रचन कौं मोह जगत के मारि।
निरमोही की होय पर कौन भावरत मारि ॥
—रसनिधि

करि कै निधन बालि-रावन को राजपाट जो आयौ ।
दई सुग्रीव बिभीषन कों सब अतिमहिमासौं बिकायौ ॥
पौंडरीक को सरबसु जीतिकरि मात-मता को कियो ।
ता कों बिप्र सुदामा के सिर करि सनेह सब दीयो ॥
ऐसी तुमरी पच्छी के गुन नेति-नेति श्रुति गावैं ।
सेस महेस सुरेस गनेसहु सहसा पार न पावैं ॥
इत माया अगाध-सागर तुम खेयहु भारत-नैया ।
रचि महाभारत कहुँ जतावत जनु मैं खेया खेया ॥
या कारन जग में प्रसिद्ध अति निपटी 'स्वार्थ' कहायौ ।
सो-अबै तुम 'मधु सूदन' क्यों सौंची बुझायौ ॥

अथवा——

'माधव तुमहुँ भए बे-लाज ।
कुही बाज के तीन पात ही करि क्यों न कोउ काज ॥
मत्त-मतंग एक ही निरखत कहा होय गुन-ग्रामैं ।
जैसेहि चीर-बढ़ाए तुम को वैसेहि सीस-दिखाएँ ॥
सबै पौन बाईस-पसेरी मिथ लोचन सौं जाँन ।
पनिहारी नहिं नैंकु बिरिज तुम्हें ऊँच-नीच को भाँन ॥
है वैनी के खोवा के सम तव मति-गति दरसावै ।
कछु को कछु मधु काज-करन में तुमहिं लाज नहिं आवै ॥
मात-पिता कहियाए भए तुम अब ऐसे बे-पीर ।
गिन-गिन कुसुम बदावत जो निज गोद-गोपनी चीर ॥
हम करी जोरि प्रार्थना ऐसी बिरज-माधव धरि राखी ।
'सत्य' दीन-दुखियनु के हित कौं,मनहुँ-मनहुँ अभिलाखौ ॥-

——सत्य

७२

नातरु—नहीं तो।

नातरु शब्दका सरल प्रयोग, यथा——

चली हुती मन तजी साँवरे 'नातरु गुरुजन बीच।

—मधुरअली

श्रीमाधव महाचार्यजी अपने 'उद्धव दूत' महाकाव्यमें कहते हैं—

वीतासङ्गाः शयनगमनस्नानपानाशनादौ
गायन्त्यस्त्वच्चरितगुणिताः संततं गीतगाथाः।
औदासीन्यं किमपि सकलां बन्धुवर्गे वहन्त्यो
गोप्यो लीलास्थलिषु भवतो योगिनीवद्भ्रमन्ति॥

अर्थात् हे भगवन्, गोपियाँ शयन, बसन, स्नान, पान और भोजन आदि सम्पूर्ण विषयोंसे आसक्ति हटाकर निरन्तर आपके ही चरित्रोंसे वर्णित गीतोंको गाती अपने बन्धु-जनोंके प्रति अति उदासीनता दिखाती हुई आपकी लीला-भूमि व्रजमें योगिनियोंके सदृश भ्रमण कर रही हैं।

कोई कवि कहता है—

शीर्णा गोकुलमण्डली पशुकुलं शष्पाय न स्पन्दते
मूका कोकिलसंहतिः शिखिकुलं न व्याकुलं नृत्यति।
सर्वे त्वद्विरहेण हन्त नितरां गोविन्द दैन्यं गताः
किंत्वेका यमुना कुरङ्गनयनानेत्राम्बुभिर्वर्धते॥'

अर्थात् हे गोविन्द, आपके बिना गोप-बालकोंकी मण्डली अस्त-व्यस्त—तितर बितर हो गयी है, गौएँ घास चरनेकी चेष्टा नहीं करतीं,

कोयलोंने बोलना छोड़ दिया है और व्याकुल मयूर अब आपके बिना नाचते नहीं। इस प्रकार आपके विरहसे सभी दीन और क्षीण हो रहे हैं, परन्तु एक यमुना ही मृग-लोचनी व्रजांगनाओंके रोदनके कारण आँसुओंसे निरन्तर बढ़ रही है।

श्रीसूर कहते हैं—

'रहत रैनि-दिन हरि-हरि-हरि-रट।
चितवत इकटक मग-चकोर-ज्यौं जब तें तुम बिछुरे नागर-नट॥
भरि-भरि नैन-नीर ढारत हैं स-जल करति अति कंचुकि के पट।
मनौं बिरह की ज्वाला-अगिनि लियो नेम प्रेम सिव-सीस सहस घट॥
जैसें मृग के जग ओस-कन प्रान रहत यौं अवधिहि के तट।
'सूरदास' प्रभु मिलौ कृपा करि जो दिन कहे ते आए निकट॥

'ब्रिज-दस चोप बसी गोपाल।
सावन के अबसेर सिरायौ बेगु आपने ख्याल॥
चाँचरि माहिं मोर तृन-दिन तें बोलत न बरषा-काल।
मृग दूबौ बिहारि दरस-बिन सुनत न बेनु-रसाल॥
हरखे न होत सबै बृंदाबन नाचत लखत न गौंस तमाल।
'सूरदास' मैया' जनम है मग चलियै बैगुपाल॥

—सूरसागर

नागरीदासजी कहते हैं—

'जीके सुनो चौम-सुजौन।
कौन मारौं बात जीरस सकल मन रस-भौन॥
तुम सुनि बिधि-बेद-अबला भवन की भगतौन।
तुहि मनोहर मंडली मैं क्यौं न राख्यो स्यौन॥
कबहुँ तुम कौं लै नचायो ओरि बाँसुरि-पौन।
कबहुँ पुनायौ मुकुट धारन कियो तन मन मौन॥

कबहुँ बेनी गूँथि निज-कर पग महावर लाँय ।
कबहुँ आगे जोरि-कर करि दीन-चित-सनमाँन ॥
प्रेम-आगैं नेम की कछु चलत नाँहि निदाँन ।
रिनी ह्वै झुके रहैं क्यौं नवल-'नागर' आँन ॥

—नागरसमुच्चय

सुकवि नंदरामजी कहते हैं—

'सीर समीरन की चढ़ झूलनि कैलिया-कूकनि क्यौं सहि जाइगी ।
कैसी निदाघ परी यह बाल तची-तन-तापन सौं दहि जाइगी ॥
हाय कछु सुधि ल्याइहौ नाँहि 'नँदराम' हिए की हिये रहि जाइगी ।
हाल लिखौ नँदलाल न तौ अँसुवान की धार-ही में बहि जाइगी ॥

—हजारा

निज कवि कहते हैं—

नंद सुत मोहू उपनंद गोप बसती भी—
जसुमति गोपी ग्वाल सखा सो भरे रहैं ।
गाय बछरू, पंछी पसु अँसुवा न भूलें दृग
ऐसी तुम बस, पात मुरलि धरे रहैं ॥
निज चू' तिहारी एक आगम की आस ही पै
साँसन में राखें प्रान गोकुल भरे रहैं ।
आँखिन न खोलें नेकु तुमहूँ न खोलें-
तन समझ न खोवें सब मरे से परे रहैं ॥

पद्माकरजी कहते हैं—

'प्यारे नँद नंद अरविंद-मुखी गोकुल की
तुम बिन चंद चाँदिनी-सी डरियो करें ।
कहै 'पद्माकर' सुराये पीरे पौन हूँ तें
निपट निदाँन पीरी पीरी परियो करें ॥

हंसगन चंद चू की आगरी गली पे गली
बैननि के नीर तें नदी-सी हरिबो करें ।
मिलि-बिछुरे हो त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि
पाती एक आसा पै स्वाँसा भरिबो करें ॥
—जगदीनेश

चतुर्वेद हरनामजी कहते हैं—

ढूरे अंक कोपल, बिलोचननि बिहारी लीन्ही
तुम्हीं चित-चीरि की कसक हरिबो करें ।
अंतर हरत तुम्हि चौकिनी करनि सगों
मदन-कुमार करतार गरिबो करें ॥
कहै 'हरनाम' मेरे गुंजन कियाव ही
मेरे आँग लाही के उर्जाव परिबो करें ।
मिलि-बिछुरे हो त्यों ही बिछुर-मिलौगे फेरि
पाती एक आसा पै स्वाँस-भरिबो करें ॥
—गोपीप्रेमपीयूषप्रवाह

७३

कवि-द्वारा भगवत्-कथा वर्णन

गात—शरीर, गात्र, देह, तन, अंग ।

गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः ।
कायो देहः क्लीबपुंसोः स्त्रियां मूर्तिस्तनुस्तनूः ॥
—अमरकोष २ । ६ । ७ , ७१

कल्पतरोरुह—वृक्ष विशेष, स्वर्गका—देवताओंका एक वृक्ष, जिसके लिये कहा जाता है कि वह बिना माँगे सब कुछ देता है, अभिलषित—इच्छाके मुताबिक फल देनेवाला, सुरद्रुम* । उनहि—

---

* इच्छित फल देनेवाला ।

उमड़कर, निकलकर, फूटकर, प्रस्फुटित होकर, फूलकर।

कल्पतरोरुह शब्दका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता, अतः गात और उरहि शब्दोंके (अन्य) प्रयोग दिये जाते हैं, यथा—

'कलस-प्याला' जोबन की सीमा मंद हँसनि मेरी जिय भावै।

—विष्णुदास

आए उरहि कंचुकी कुच कछु सोभा कहत न आवै।

—श्यामदास

कुछ ऐसी ही दयनीय दशाका वर्णन स्वर्गीय बाबू जगन्नाथ दास 'रत्नाकर' ने भी किया है जैसे—

'आए लौटि पौरि-सौं सवारि सुधि ऊधव की
　　और ही बिलोकि दसा दृग-भरि लेति हैं।
कहै 'रतनाकर' बिलोकि बिलखात उन्हें
　　ए ऊ कर काँपत करेजें धरि लेति हैं॥
आवति कछूक पूछिबे औ कहिबे कौं मन
　　परत न साहस पै दाबि धरि लेति हैं।
आनन उदास साँस-भरि उकसौहैं करि
　　सौं करि नैननि निचौहैं करि लेति हैं॥

—उद्धवशतक

७४

उद्धव-प्रति भगवान्का प्रेमोपालम्भ

सचेत—स्वस्थ चित्त होकर, सावधान होकर, चौकस हो, मन को ढाँढ़स देकर सचेत होकर। ल्यावन—लेने, लेनेको, लानेके लिये। आनि—आकर। मो में—मुझमें। अंतर—पृथकता, भेद, विभिन्नता, अलगाव, फर्क।

स्तरमयपदमाशाखिपरिणामान्तर्धिमेदताम्यर्थे ।
छिद्रात्मीयविभाषाहिरयसरमयोंऽतरात्मनि च ॥'

—अमरकोष १ । ३ । १८

तरंगनि—तरंगें, लहरें, पानीकी उछालें जो कि हवाके कारण उत्पन्न होती हैं[1] हिलोरें।

भगस्तरग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचि अथोर्मिषु ।'

—अमरकोष १ । १ । ५

पारि—जल, पानी, नीर, अम्बु।

आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम् ।
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ।

—अमरकोष १ । ९ । ३

सचेन स्यन्दन, औनि, अंतर, तरंगनि और वारि शब्दके सुन्दर प्रयोग।

"हरि 'भवेश' है नाम हरी की जाते पाप नसाँह ।

—वारनदास

मरहुन मोत सुमन मधुर्मगल परम् 'ममाचल' जल ।

—कनमाधान

"औनि बेहु तुम धन आपनी बालक, अज, बनवारी ।

—परमानन्ददास

होत हूप शंम 'तरंगनि बीडी जमुनीं जगत बैकुंठ की निसैनी ।'

—छीतस्वामी

"परमत 'वारि' सकल मप माजैं ज्यों हरि-हेमि हिरन की सिन्धा ।

—व्रजपति

---

[1] वाधुभा न वारिरूमस्य तिर्यगूर्ध्वेस्तनम् ।

—शब्दकल्पद्रुम

श्रीसूरजी कहते हैं—

'ऊधौ भलो ग्यान समुझायौ ।
तुम सो अब यों कहा कहत हौ मैं कहि कहा पठायौ ॥
कहि आवत ही भये चतुर पै यहाँ न कछु कहि आयौ ।
'सूरदास' ब्रज-बासिन कौ हित हरि-हिय माँझ दुरायौ ॥

'ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाँहीं ।
बृंदाबन गोकुल तन आवत सघन तृनँन की छाँहीं ॥
प्रात-समैं माता जसुमति औ नंद देखि सुख पावत ।
माँखन-रोटी-दह्यौ सँजोयौ अति हित सौं जु खवावत ॥
गोपी ग्वाल बाल सँग खेलत सब दिन हँसत सिरात ।
'सूरदास' धनि-धनि ब्रज-बासी जिन सौं हरि मुसिक्यात ॥

'ऊधौ मोहिं ब्रज भूलत नाँहीं ।
हंस-सुता-कूलन की सोभा अरु कदंब की छाँहीं ॥
वह सुरभी गऊ, बच्छ, दोहिनी खिरक-दुहावन जाँहीं ।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, निरतत गहि-गहि बाँहीं ॥
कीन्ह मधुर-भाँति हम कीन्ही जसुमति-नंद निबाँहीं ।
जब-जब सुरति होत वा सुख की उँमगत मन मन माँहीं ॥
पै इतनिक रची सु कनक की मनि-मुक्ता जटि जाँहीं ।
'सूरदास' प्रभु सुमरि-सुमरि-सुख कहि-कहि यौं पछतांहीं ॥

—सूरसागर

उद्धव-प्रति भगवान्-द्वारा कहलाते हुए श्रीनागरीदासजी कहते हैं—

'मोहिं गोपी-जन नहिं बिसरत ।
उनकी प्रीति-रीति अंतर की छनक न मुख तें निसरत ॥
सबहिं चतुर सब नाँगर-मूरति सब तन प्रेम अछेह ।
तिन में श्रीराधा के मेरे एक प्रान द्वै-देह ॥

जदपि तिहारी ह्वाँ अमरावति-सी रावरो सकल सुख साँई।
तदपि सुधि आवत ब्रज की जब तब सुधि की सुधि जाइ॥
ऊधौ परम मर्म व सखा प्रिय तुम बिन कासौं कहिये।
'नागरिदास' दुसह मन-ही-मन बिरह-पीर नित सहिये॥'*

हमारे परम माननीय स्वर्गीय कवि नवनीतजी कहते हैं—

हरि गये मिलन तिहारी उपदेश ही की
हरि भाई भक्ति हिये भाव-भूरि भरे तें।
'नवनीत' सगुन सरूप को ममत्व भाइ
निरगुन-बिसारि आयो प्रीति उर धारे तें॥
उन हीं की ओर तें सिखावन करन आयो
मथुरा आयो बिरह-दवारि-झार झरे तें।
जोग भरि लायो भी बियोग भरि लायो ऊधौ
जीवत न आयो ऐसा आरतिन हिमारे तें॥
'उद्धव विनय विलोकि कै कवि कुमति अभिराम।
गोपिन-ध्रुव दरसन दिए, नँद-नंदन घनश्याम॥

तरंगिनि-वारिप एक सुमधुर सूक्ति और सुनिये, जैसे—

'सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥'

—श्रीमच्छंकराचार्य (षट्पदी), ३

---

* उक्त भावपर आदिपुराण की एक सुमधुर सूक्ति हमें भी याद आ गयी है जैसे—

'न तथा मे प्रियतमा ब्रह्मा रुद्रश्च पार्थिव।
न च लक्ष्मीर्न चात्मा च यथा गोपीजनो मम॥'

—आदिपुराण

अर्थात्—ब्रह्मा, रुद्र लक्ष्मी और स्वयं मेरी आत्मा भी मुझे उतनी प्रिय नहीं है जितनी कि गोपियाँ हैं।

अर्थात् हे नाथ, मुझमें और आपमें भेद न होनेपर भी मैं तो आपका ही हूँ, किंतु आप मेरे नहीं हैं, क्योंकि तरंगें समुद्रकी होती हैं, तरंगका समुद्र नहीं ।

७५

कवि-कथन

व्यामोहक (पद्यांतर्गत)—मोह उत्पन्न करनेवाली, विमोहक, माया। जारी—जाली, परदा, माया। पुंजनी—देनेवाली; पूर्ण करनेवाली।* परिपूर्ण, ओत-प्रोत।

व्यामोहक, जारी और पुंजनी शब्दोंका सुन्दर प्रयोग, यथा—

सकल लोक दिखराइ मात मुख डारि दई व्यामोहक-जारी ।

—परमानन्ददास

प्रेम-पुंजनी रस-सी लीला गावै और सुनावै ।

—वृन्दावनदास

॥ इति शुभम् ॥



---

* श्रीनन्ददासजीके इस छंदमें—'प्रेम-रस-पुंजनी' के 'पुंजनी'का अर्थ करते हुए श्रीवियोगी हरि और व्रजरत्नदासजी आदिने इसका अर्थ 'ढेरी, ढेर' या 'ढेरी मात्र' है जो कि उचित प्रतीत नहीं होता। कारण, पुंज शब्दसे 'पुंजनी' नहीं बना है अपितु यह क्रियाविशेष है—सकर्मक क्रिया है और इसका अर्थ जैसा कि ऊपर दिया गया है—होता है। उदाहरण भी मौजूद है आगे भूल-चूक लेनी-देनी।

परिशिष्ट

॥ श्री ॥

परिशिष्ट ("क")



श्रीशुक उवाच

वृष्णीनां प्रवरो मन्त्री कृष्णस्य दयितः सखा ।
शिष्यो बृहस्पतेः साक्षादुद्धवो बुद्धिसत्तमः ॥ १ ॥
तमाह भगवान् प्रेष्ठं भक्तमेकान्तिनं क्वचित् ।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रपन्नार्तिहरो हरिः ॥ २ ॥
गच्छोद्धव व्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह ।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥ ३ ॥
ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः ।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् ॥ ४ ॥

१—श्रीशुकदेवजी बोले—वृष्णियोंके सर्वश्रेष्ठ मंत्री, भगवान् कृष्णके प्यारे सखा और शरणागतोंके दुःख हरनेवाले बृहस्पतिके साक्षात् शिष्य अथवा परम बुद्धिमान् या बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ उद्धवको भगवानने बुला और उनका हाथ अपने हाथमें ले तथा एकान्तमें ले जाकर बोले— हे उद्धव ! हे सौम्य (निर्मल) ! तुम व्रजको जाओ । वहाँ मेरे वियोग-पीड़ित पिता माता और गोपियोंको मेरा संदेशा देकर उनके विरह दुःखको दूर करो, क्योंकि इन गोपियोंका मन मुझमें ही लगा रहा है और मेरे लिये ही उन सबने अपने देहके सुखोंको छोड़ दिया है । उनकी तो बात ही क्या जो कोई भी मेरे लिये लोक और धर्म त्याग कर देता है उनका पालन-पोषण मैं ही करता हूँ ॥ १–४ ॥

मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः ।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः ॥ ५ ॥
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन ।
प्रत्यागमनसन्देशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः ॥ ६ ॥

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त उद्धवो राजन् सन्देशं भर्तुराहृतः ।
आदाय रथमारुह्य प्रययौ नन्दगोकुलम् ॥ ७ ॥
प्राप्तो नन्दव्रजं श्रीमान् निम्लोचति विभावसौ ।
छन्नयानः प्रविशतां पशूनां खुररेणुभिः ॥ ८ ॥
वासितार्थेऽभियुध्यद्भिर्नादितं शुष्मिभिर्वृषैः ।
धावन्तीभिश्च वास्राभिरुधोभारैः स्ववत्सकान् ॥ ९ ॥
इतस्ततो विलङ्घद्भिर्गोवत्सैर्मण्डितं सितैः ।
गोदोहशब्दाभिरवं वेणूनां निःस्वनेन च ॥ १० ॥

मैं उनका प्रियसे भी प्रिय हूँ, इसलिये मेरे विलग होनेसे वे गोकुलकी स्त्रियाँ—व्रज-नारियाँ मुझे स्मरण कर-कर मोहित हो विरहकी उत्कण्ठासे विह्वल हो जाती हैं ॥ ५ ॥

वे बड़ी कठिनाईसे किसी प्रकार प्राणोंको रख केवल मेरे संदेश पानेकी अभिलाषासे ही जी रही हैं ॥ ६ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—हे राजन्! इस प्रकार भगवान्के कहनेपर उद्धव भगवान्का संदेश कहनेके लिये रथपर बैठकर व्रजको चले ॥ ७ ॥

सूर्यास्तके समय लौटते हुए पशुओंकी खुररेणुसे रक्षित रथद्वारा उद्धव नन्दके व्रजमें पहुँचे ॥ ८ ॥

वह व्रज पुष्पवती गौओंके लिये आपसमें लड़नेवाले मतवाले वृषभोंसे शब्दायमान थी। गौएँ अपने स्तनोंके भारसे भारान्वित होते हुए भी अपने-अपने बछड़ोंपर दौड़ती थीं—उनको आलिंगनके लिये उनकी ओर जाती हैं। इधर-उधर दौड़ते हुए सफेद गौओंके बछड़ोंसे सुशोभित व्रज गो-दोहनके शब्दोंसे संकलित और बंशी-ध्वनिसे व्याप्त है ॥ ११ ॥

गायन्तीभिश्च कर्माणि शुभानि बलकृष्णयोः ।
स्वलङ्कृताभिर्गोपीभिर्गोपैश्च सुविराजितम् ॥ ११ ॥
अग्न्यर्कातिथिगोविप्रपितृदेवार्चनान्वितैः ।
धूपदीपैश्च माल्यैश्च गोपावासैर्मनोरमम् ॥ १२ ॥
सर्वतः पुष्पितवनं द्विजालिकुलनादितम् ।
हंसकारण्डवाकीर्णैः पद्मषण्डैश्च मण्डितम् ॥ १३ ॥
तमागतं समागम्य कृष्णस्यानुचरं प्रियम् ।
नन्दः प्रीतः परिष्वज्य वासुदेवधियार्चयत् ॥ १४ ॥
भोजितं परमान्नेन संविष्टं कशिपौ सुखम् ।
गतश्रमं पर्यपृच्छत्पादसंवाहनादिभिः ॥ १५ ॥
कच्चिदङ्ग महाभाग सखा नः शूरनन्दनः ।
आस्ते कुशल्यपत्याद्यैर्युक्तो मुक्तः सुहृद्वृतः ॥ १६ ॥

और वह व्रज श्रीकृष्ण और बलरामद्वारा किये गये शुभ कर्मोंका गान करनेवाली सुन्दर अलंकारोंसे अलंकृत गोप-बाला और गोपोंसे सुशोभित है ॥ ११ ॥

वह व्रज अग्नि, सूर्य, अतिथि, गौ, ब्राह्मण और पितृदेवताओंकी पूजाके धूप, दीप और मालाओंसे सुशोभित गोपोंके घरोंसे बड़ा मनोहर है ॥ १२ ॥

चारों ओर फूले हुए वनोंसे सुशोभित पक्षी और भ्रमरसमूहोंसे शब्दायमान है और हंस कारण्डव (जलकुक्कुट) आदिसे युक्त पद्म-समूहसे मण्डित है ॥ १३ ॥

श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय अनुचर उद्धवको आया देखकर श्रीनंद बाबा अति प्रसन्न हुए और उनका आलिंगन कर (उनका) अर्चन किया ॥ १४ ॥

रातमें भोजनके उपरान्त उन्हें पलंगपर सुखपूर्वक बैठाकर नंद बाबा उनकी पाद-सेवा करते हुए यह पूछने लगे ॥ १५ ॥

उद्धवजीसे बाबा नंद बोले कि हे महाभाग ! हमारे मित्र शूर-पुत्र वसुदेव बन्धन-विमुक्त हो सुहृदोंके साथ पुत्रादि-सहित कुशलता हैं ? ॥ १६ ॥

दिष्ट्या कंसो हतः पापः सानुगः स्वेन पाप्मना ।
साधूनां धर्मशीलानां यदूनां द्वेष्टि यः सदा ॥ १७ ॥
अपि स्मरति नः कृष्णो मातरं सुहृदः सखीन् ।
गोपान्व्रजं चात्मनाथं गावो वृन्दावनं गिरिम् ॥ १८ ॥
अप्यायास्यति गोविन्दः स्वजनान्सकृदीक्षितुम् ।
तर्हि द्रक्ष्याम तद्वक्त्रं सुनसं सुस्मितेक्षणम् ॥ १९ ॥
दावाग्नेर्वातवर्षाच्च वृषसर्पाच्च रक्षिताः ।
दुरत्ययेभ्यो मृत्युभ्यः कृष्णेन सुमहात्मना ॥ २० ॥
स्मरतां कृष्णवीर्याणि लीलापाङ्गनिरीक्षितम् ।
हसितं भाषितं चाङ्ग सर्वा नः शिथिलाः क्रियाः ॥ २१ ॥
सरिच्छैलवनोद्देशान्मुकुन्दपदभूषितान् ।
आक्रीडानीक्ष्यमाणानां मनो याति तदात्मताम् ॥ २२ ॥

पापी कंस अपने अनुयायियोंके साथ अपने पापद्वारा मारा गया, अच्छा हुआ क्योंकि वह सदा धर्मशील और साधु यादवोंसे द्वेष करता था ॥ १७ ॥

क्या कृष्ण अपनी माता और सुहृद् सखाओंके साथ हमारी गौओं, गोपों और अपने द्वारा रक्षित व्रज, वृंदावन तथा गोवर्धनको कभी याद करते हैं ? ॥ १८ ॥

हे उद्धव ! क्या गोविंद अपने स्वजनोंको देखने यहाँ (व्रजमें) आवेंगे ! क्या फिर हम उस सुन्दर नासिका और नेत्रोंवाले हँसते हुए मुखको देखेंगे ॥ १९ ॥

क्योंकि दावानल, पवन तथा अरिष्टासुर और कालियसर्पसे उसने हमारी रक्षा की है। बड़ी-बड़ी मृत्युओंसे भी उस सुहृद् आत्मा कृष्णने हमारी रक्षा की है ॥ २० ॥ श्रीकृष्णके चारु चरित, उनके लीला सहित नेत्रोंसे कटाक्षमय देखना, उनका हँसना बोलना, ये सब स्मरण करनेसे हमारी क्रियाएँ—आंगिक कर्म सब शिथिल हो जाते हैं ॥ २१ ॥ नदी, पर्वत और वनके वे प्रदेश—स्थानविशेष जो मुकुंद भगवान्‌के पदोंसे सुशोभित हैं अथवा जहाँ वह खेले हैं देखनेसे हमलोगोंके मन कृष्ण-मय हो जाते हैं ॥२२॥

मन्ये कृष्णं च रामं च प्राप्ताविह सुरोत्तमौ ।
सुराणां महदर्थाय गर्गस्य वचनं यथा ॥ २३ ॥
कंसं नागायुतप्राणं मल्लौ गजपतिं तथा ।
अवधिष्टां लीलयैव पशूनिव मृगाधिपः ॥ २४ ॥
तालत्रयं महासारं धनुर्यष्टिमिवेभराट् ।
बभञ्जैकेन हस्तेन सप्ताहमदधाद्गिरिम् ॥ २५ ॥
प्रलम्बो धेनुकोऽरिष्टस्तृणावर्तो बकादयः ।
दैत्याः सुरासुरजितो हता येनेह लीलया ॥ २६ ॥
श्रीशुक उवाच
इति संस्मृत्य संस्मृत्य नंदः कृष्णानुरक्तधीः ।
अत्युत्कण्ठोऽभवत्तूष्णीं प्रेमप्रसरविह्वलः ॥ २७ ॥
यशोदा वर्ण्यमानानि पुत्रस्य चरितानि च ।
शृण्वन्त्यश्रूण्यवास्राक्षीत्स्नेहस्नुतपयोधरा ॥ २८ ॥

हम मानते हैं कि श्रीकृष्ण और बलराम दोनों देवताओंमें श्रेष्ठ देवता हैं, देवताओंके बड़े कार्य करनेके लिये पधारे हैं जैसा कि गर्गने कहा था ॥ २३ ॥

उन्होंने दस हजार हाथियोंके बलवाले कंसको उसके मल्लोंको और कुवलयापीड हाथीको सहज ही ऐसे मारा जैसे सिंह मृगोंको मारता है ॥२४॥

उस तीन तालके बराबर लंबे धनुषको उन्होंने इस प्रकार तोड़ डाला जिस प्रकार हाथी किसी लकड़ीको तोड़ डाले और सात दिनतक एक हाथपर गोवर्धन पर्वतको भी धारण किया था ॥ २५ ॥

जिन्होंने सुर और असुरोंको भी जीत लिया—ऐसे प्रलम्ब धेनुक अरिष्ट तृणावर्त और बकासुर आदि दैत्योंको मारा और सहज ही मारा ।

श्रीशुकदेव बोले कि राजन्! इस प्रकार श्रीकृष्णमें अनुरक्त बाबा नंद उनकी बातोंको याद कर कर उत्कंठासे गला भर आनेके कारण प्रेममें विह्वल हो चुप हो गये और माता यशोदा भी पुत्रके वर्णन किये गये इस चरितको सुनकर आँसुओंसे पृथ्वीको भिगोने लगीं तथा स्नेहके कारण उनके स्तन-द्वयसे दूध टपकने लगा ॥ २७-२८ ॥

तयोरित्थं भगवति कृष्णे नन्दयशोदयोः ।
वीक्ष्यानुरागं परमं नन्दमाहोद्धवो मुदा ॥ २९ ॥

उद्धव उवाच

युवां श्लाघ्यतमौ नूनं देहिनामिह मानद ।
नारायणेऽखिलगुरौ यत्कृता मतिरीदृशी ॥ ३० ॥
एतौ हि विश्वस्य च बीजयोनी रामो मुकुन्दः पुरुषः प्रधानम् ।
अन्वीय भूतेषु विलक्षणस्य ज्ञानस्य चेशात इमौ पुराणौ ॥ ३१ ॥
यस्मिञ्जनः प्राणवियोगकाले क्षणं समावेश्य मनो विशुद्धम् ।
निर्हृत्य कर्माशयमाशु याति परां गतिं ब्रह्ममयोऽर्कवर्णः ॥ ३२ ॥
तस्मिन्भवन्तावखिलात्महेतौ नारायणे कारणमर्त्यमूर्तौ ।
भावं विधत्तां नितरां महात्मन्किं वावशिष्टं युवयोः सुकृत्यम् ॥ ३३ ॥

बाबा नंद और यशोदाका भगवान् कृष्णके प्रति इस प्रकारका अनुराग देख उद्धव बड़े आनंदको प्राप्त हो बाबा नंदसे बोले ॥ २९ ॥

उद्धव बोले — हे मानद (प्रतिष्ठा करने योग्य)! यह बात निश्चय है कि आप और माँ यशोदा दोनों बड़ी सुंदरश्लाघा (स्तुति) के योग्य हो, क्योंकि आप दोनोंने सब लोकोंके गुरु नारायणके प्रति इस प्रकार बुद्धि लगायी है ॥ ३० ॥

ये राम और कृष्ण दोनों वीर्य और योनि होनेसे संसारके उपादान और निमित्तके कारण हैं। प्रकृति और पुरुष इन दोनोंके ही आधीन हैं ये दोनों पुराण पुरुष हैं जो सब भूतोंमें प्रविष्ट हो विलक्षण ज्ञानका नियमन करते हैं ॥ ३१ ॥

जिन कृष्णके प्रति पुरुष प्राण-वियोगके समय क्षणमात्र भी निर्मल मन लगाने तो शीघ्र ही कर्म-वासनाओंको दूर कर और ब्रह्म ज्ञानी बन सूर्य-सा प्रकाशित हो परमगति वैकुंठको पाता है ॥ ३२ ॥

हे महात्मन्! यद्यपि इस संसारके हेतु भक्तोंके पावन प्रेमके कारण मर्त्य-रूप (मनुष्यरूप) धारण करनेवाले श्रीनारायणके प्रति आप दोनोंने जैसी भावना की है उससे आपकी अब कौन-सी कमनीय कामना बाकी रही ॥ ३३ ॥

आगमिष्यत्यदीर्घेण कालेन व्रजमच्युतः।
प्रियं विधास्यते पित्रोर्भगवान् सात्वतां पतिः ॥ ३४ ॥
हत्वा कंसं रङ्गमध्ये प्रतीपं सर्वसात्वताम्।
यदाह वः समागत्य कृष्णः सत्यं करोति तत् ॥ ३५ ॥
मा खिद्यतं महाभागौ द्रक्ष्यथः कृष्णमन्तिके।
अन्तर्हृदि स भूतानामास्ते ज्योतिरिवैधसि ॥ ३६ ॥
न ह्यस्यास्ति प्रियः कश्चिन्नाप्रियो वास्त्यमानिनः।
नोत्तमो नाधमो नापि समानस्यासमोऽपि वा ॥ ३७ ॥
न माता न पिता तस्य न भार्या न सुतादयः।
नात्मीयो न परश्चापि न देहो जन्म एव च ॥ ३८ ॥
न चास्य कर्म वा लोके सदसन्मिश्रयोनिषु।
क्रीडार्थः सोऽपि साधूनां परित्राणाय कल्पते ॥ ३९ ॥

तथापि सात्वतों (यादवों) के पति अच्युत भगवान् थोड़े ही दिनोंमें व्रज पधारेंगे और आप लोगोंको सुख देंगे ॥ ३४ ॥

क्योंकि रंगभूमिमें यादवोंके शत्रु कंसको मारकर जो कुछ आपसे भगवान् श्रीकृष्णने कहा है, उसे वे अवश्य ही सत्य करेंगे ॥ ३५ ॥

हे महाभाग! आप लोग न करें क्योंकि श्रीकृष्णको आप अपने पास अवश्य ही देखेंगे। वे तो सब भूतोंके हृदयमें इस प्रकार विराजमान हैं जिस प्रकार लकड़ीके भीतर अग्नि रहती है ॥ ३६ ॥

आत्मा वे मान-रहित हैं उनका कोई प्रिय और अप्रिय नहीं है सब-को समान मानते हैं, इसलिये उनके कोई उत्तम और मध्यम नहीं हैं ॥ ३७ ॥

उनके न कोई माता है न पिता है, न भार्या है और न सुतादि हैं। उनके न कोई अपना है और न पराया न देह है न जन्म है ॥ ३८ ॥

यद्यपि इन सत् असत् मिश्रित योनियोंमें उनका कोई भी कर्म नहीं है तथापि साधुओंकी रक्षाके लिये वे क्रीडामें प्रवृत्त होते ही हैं ॥ ३९ ॥

सत्त्वं रजस्तम इति भजते निर्गुणो गुणान् ।
क्रीडन्नतीतोऽत्र गुणैः सृजत्यवति हन्त्यजः ॥ ४० ॥
यथा भ्रमरिकादृष्ट्या भ्राम्यतीव महीयते ।
चित्ते कर्तरि तत्रात्मा कर्तेवाहंधिया स्मृतः ॥ ४१ ॥
युवयोरेव नैवायमात्मजो भगवान्हरिः ।
सर्वेषामात्मजो ह्यात्मा पिता माता स ईश्वरः ॥ ४२ ॥
दृष्टं श्रुतं भूतभवद्भविष्यत्स्थास्नुश्चरिष्णुर्महदल्पकं च ।
विनाच्युताद्वस्तुतरां न वाच्यं स एव सर्वं परमार्थभूतः ॥४३॥
एवं निशा सा ब्रुवतोर्व्यतीता नन्दस्य कृष्णानुचरस्य राजन् ।
गोप्यः समुत्थाय निरूप्य दीपान्वास्तून्समभ्यर्च्य दधीन्यमन्थन् ॥

वे गुण-रहित होकर भी सत्त्व, रज और तमादि गुणोंको भजते हैं; क्रीडा करते हैं तथा संसारकी उत्पत्ति, स्थिति तथा प्रलयके कारण होते हैं ॥४०॥

जिस प्रकार घूमते हुए पुरुषकी दृष्टिमें पृथ्वी भी घूमती हुई सब भासती है उसी प्रकार आत्माका जो अहंभाव—मैं-पना है, उससे चित्त देहादिकमें आरोपकर आत्मा देहादिको कर्ता मानता है ॥ ४१ ॥

भगवान् हरि केवल आपके ही पुत्र नहीं हैं, अपितु वे सबके पुत्र आत्मा पिता और माता हैं अतः वे ईश्वर हैं ॥ ४२ ॥

जगत्में जो दृश्य (देखने लायक) या श्रुत (सुनने लायक) भूत या भविष्यत् स्थिर या चर, छोटा या बड़ा जो कुछ भी है वह सब अच्युतमय है। उनके बिना कुछ भी नहीं है इसलिये वे ही सबमें होनेसे सर्वमय हैं ॥ ४३ ॥

श्रीशुकदेव महाराज परीक्षित्से बोले कि राजन् बाबा नंदसे कृष्ण-दूत उद्धवको इस प्रकार कहते-कहते ही वह रात्रि क्षणके समान व्यतीत हो गयी। प्रातःकाल सब गोपियाँ उठीं और नित्यकर्मके अनन्तर विधि-पूर्वक दीप-सहित वास्तुदेवोंका पूजन कर दधि मथने लगीं ॥ ४४ ॥

ता दीपदीप्तैर्मणिभिर्विरेजू रज्जूर्विकर्षद्भुजकङ्कणस्रजः ।
चलन्नितम्बस्तनहारकुण्डलत्विषत्कपोलारुणकुङ्कुमाननाः ॥ ४५ ॥
उद्गायतीनामरविन्दलोचनं व्रजाङ्गनानां दिवमस्पृशद्ध्वनिः ।
दध्नश्च निर्मन्थनशब्दमिश्रितो निरस्यते येन दिशाममङ्गलम् ॥ ४६ ॥
भगवत्युदिते सूर्ये नन्दद्वारि व्रजौकसः ।
दृष्ट्वा रथं शातकौम्भं कस्यायमिति चाब्रुवन् ॥ ४७ ॥
अक्रूर आगतः किं वा यः कंसस्यार्थसाधकः ।
येन नीतो मधुपुरीं कृष्णः कमललोचनः ॥ ४८ ॥
किं साधयिष्यत्यस्माभिर्भर्तुः प्रीतस्य निष्कृतिम् ।
इति स्त्रीणां वदन्तीनामुद्धवोऽगात्कृताह्निकः ॥ ४९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे नन्दशोकापनयनं नाम षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

राजन्! उनके मणिमय आभूषण दीपोंसे प्रकाशित होनेके कारण बड़े सुन्दर दिखायी पड़ने लगे। दधि-मथनके समय रस्सी-रज्जुके आकर्षणसे—बार-बार खींचनेसे, उनकी भुजा, कङ्कण, माला, नितम्बदेश, परिस्पन्द स्तन, हार और कुण्डल सब चंचल होने लगे। उनका कुंकुम-मण्डित मुख अरुण होनेके कारण विशेष सुन्दर लगने लगा ॥ ४५ ॥

कमल-लोचन भगवान्‌के चारु चरित गान करनेके कारण व्रज-सुन्दरियोंकी जो रसपूर्ण मंजुल-ध्वनि उत्पन्न हुई वह दधि-मंथनकी सुन्दर स्वर-लहरीके साथ मिल कर आकाशमें फैल गयी जिससे दसों दिशाओंका अमंगल नाश होने लगा ॥ ४६ ॥

जब सूर्योदय हुआ तो व्रज-वासी बाबा नंदके द्वारपर खड़े सुंदर रथ को देखकर आपसमें पूछने लगे कि यह 'रथ' किसका है ॥ ४७ ॥

क्या अक्रूर फिर आया है? जो कंसकी अर्थ-सिद्धिके लिये हमारे प्यारे कमल-लोचन कृष्णको मथुरा ले गया था? ॥ ४८ ॥

क्या अब हमारे प्राण-रहित शरीरसे वह अपना कोई अन्य अभीष्ट कार्य सिद्ध करना चाहता है? इस प्रकार स्त्रियोंके कहने-सुननेमें ही श्रीउद्धव स्नान-संध्यादि कर यहाँ (नन्द-घर) आ गये ॥ ४९ ॥

श्रीशुक उवाच

तं वीक्ष्य कृष्णानुचरं व्रजस्त्रियः प्रलम्बबाहुं नवकञ्जलोचनम् ।
पीताम्बरं पुष्करमालिनं लसन्मुखारविन्दं मणिमृष्टकुण्डलम् ॥ १ ॥
शुचिस्मिताः कोऽयमपीव्यदर्शनः कुतश्च कस्याच्युतवेषभूषणः ।
इति स्म सर्वाः परिवव्रुरुत्सुकास्तमुत्तमश्लोकपदाम्बुजाश्रयम् ॥ २ ॥
तं प्रश्रयेणावनताः सुसत्कृतं सव्रीडहासेक्षणसूनृतादिभिः ।
रहस्यपृच्छन्नुपविष्टमासने विज्ञाय संदेशहरं रमापतेः ॥ ३ ॥
जानीमस्त्वां यदुपतेः पार्षदं समुपागतम् ।
भर्त्रेह प्रेषितः पित्रोर्भवान् प्रियचिकीर्षया ॥ ४ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले—राजन् ! नवीन कमलके समान नेत्रोंवाले आजानुबाहु पीताम्बरधारी कमल-मालिकाओंसे युक्त और मणि-जटित कुण्डलोंसे देदीप्यमान मुखवाले भगवान्‌के अनुचर (उद्धव) को गोपियोंने देखा, व्रजकी स्त्रियोंने उन्हें निहारा ॥ १ ॥

उत्तमश्लोक भगवान्‌के चरण-कमलके आश्रयमें रहनेवाले उनकी अच्युत-जैसी ही वेश-भूषा देखकर गोपियाँ विस्मयके साथ आपसमें पूछने लगीं कि यह मनोहर दर्शनवाला कौन है ? कहाँसे आया है ? आदि करती हुई उत्कंठा-वश उनको चारों ओरसे घेर लिया ॥ २ ॥

जब गोपियोंने जाना कि ये प्रिय कृष्णके सखा हैं और उनका संदेश लेकर आये हैं तब विनम्र हो लजायी हुई कुछ-कुछ मुसकराती तथा कटाक्षमय मधुर वचनों-द्वारा उनका सत्कार करती हुई, एकान्तमें ले जाकर उत्तम आसनपर उन्हें बैठाया और पूछने लगीं ॥ ३ ॥

गोपी बोलीं कि हम आपको जानती हैं कि आप यदुपतिके पार्षद (पासमें रहनेवाले, मंत्री, मीर मजलिस) हो और आपको आपके स्वामीने माता-पिताकी प्रसन्नताके निमित्त भेजा है । इसीलिये आप यहाँ आये हैं ॥ ४ ॥

अन्यथा गोव्रजे तस्य स्मरणीयं न चक्ष्महे ।
स्नेहानुबन्धो बन्धूनां मुनेरपि सुदुस्त्यजः ॥ ५ ॥
अन्येष्वर्थकृता मैत्री यावदर्थविडम्बनम् ।
पुम्भिः स्त्रीषु कृता यद्वत्सुमनःस्विव षट्पदैः ॥ ६ ॥
निःस्वं त्यजन्ति गणिका अकल्पं नृपतिं प्रजाः ।
अधीतविद्या आचार्यमृत्विजो दत्तदक्षिणम् ॥ ७ ॥
खगा वीतफलं वृक्षं भुक्त्वा चातिथयो गृहम् ।
दग्धं मृगास्तथारण्यं जारो भुक्त्वा रतां स्त्रियम् ॥ ८ ॥

नहीं तो इस गोव्रजमें अब उनकी प्यारी ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दिखलायी पड़ती जो उन्हें यहाँकी याद दिलावे परंतु हाँ, जिनके स्नेह-बन्धनमें बँधकर आपको यहाँ उनकी प्रसन्नतार्थ भेजा है सो ठीक है, क्योंकि स्नेहरूप मोह बन्धन मुनियोंसे भी कठिनतासे छोड़ा जाता है ॥५॥

जो अपने नहीं हैं उनसे मतलब निकल जाने तककी ही मित्रता होती है—रहती है जब प्रयोजन सिद्ध हो गया तब मित्रता कैसी ! उदाहरणरूपमें अन्य स्त्रियोंके साथ पुरुषोंकी अथवा नवविकसित पुष्पोंके साथ भौंरोंकी (जैसी) मित्रता रही जा सकती है ॥ ६ ॥

धन-हीन पुरुषको वेश्या असमर्थ राजाको प्रजा विद्या पढ़ लेनेपर अध्यापकको विद्यार्थी यजमानसे दक्षिणा ले लेनेके बाद ऋत्विज (यज्ञ करानेवाला), फल बीतनेपर पेड़ (वृक्ष) को पक्षी भोजनके अनन्तर अतिथि वन जलनेके बाद वनको मृग भोगे पीछे अनुरक्ता परस्त्रीको जार पुरुष छोड़ देते हैं, इसमें क्या कहना और सुनना ॥ ७ ॥

अथवा जिस प्रकार फलरहित वृक्षको पक्षी भोजनके अनन्तर जिस प्रकार अतिथि घरको जले हुए वनको जिस प्रकार मृग और भोगकर पश्चात् जिस प्रकार जार पुरुष स्त्रीको छोड़ देते हैं उसी प्रकार हमको छोड़ दिया ॥ ८ ॥

इति गोप्यो हि गोविन्दे गतवाक्कायमानसाः ।
कृष्णदूते व्रजं याते उद्धवे त्यक्तलौकिकाः ॥ ९ ॥
गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदन्त्यश्च गतह्रियः ।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोरबाल्ययोः ॥ १० ॥
काचिन्मधुकरं दृष्ट्वा ध्यायन्ती कृष्णसङ्गमम् ।
प्रियप्रस्थापितं दूतं कल्पयित्वेदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

गोप्युवाच

मधुप कितवबन्धो मा स्पृशाङ्घ्रिं सपत्न्याः
कुचविलुलितमालाकुङ्कुमश्मश्रुभिर्नः ।
वहतु मधुपतिस्तन्मानिनीनां प्रसादं
यदुसदसि विडम्ब्यं यस्य दूतस्त्वमीदृक् ॥ १२ ॥

इस तरह मन, वचन और शरीरसे गोविन्दमें आसक्त गोपियोंने भगवान् कृष्णके दूत उद्धवको व्रजमें पाकर—उनके साथ संभाषण करते हुए अपने सब लौकिक कर्मोंको छोड़ दिया ॥ ९ ॥

पहिले वे अपने प्रियके कर्मों (कर्मों) को गान करने लगीं और फिर उनके बाल्य और किशोरावस्थामें किये गये कर्मोंको याद करके लज्जा छोड़ रुदन करने लगीं ॥ १० ॥

कृष्ण भगवान्के सुसंगमका ध्यान करती हुई वे गोपियाँ, किसी मधुकरको देख और उसे अपने प्रियका दूत मानकर कल्पना कर, यह कहने लगीं ॥ ११ ॥

गोपियाँ बोलीं कि हे मधुप ! तुम कपटीके मित्र हो अतः हमारे चरणोंका स्पर्श न करो क्योंकि तुम सौतके स्तनोंपर विलुलित मालाके कुंकुम (केशर) को लगा लाये हो । अरे, ऐसे मानिनीके उपासक प्रसादको तो तेरा मधुपति (श्रीकृष्ण) ही धारण करने लायक है, वही इस प्रसादको पाकर यदु-सभामें हँसने लायक है जिसका कि तू दूत बना है ॥ १२ ॥

सकृदधरसुधां स्वां मोहिनीं पाययित्वा
सुमनस इव सद्यस्तत्यजेऽस्मान्भवादृक् ।
परिचरति कथं तत्पादपद्मं तु पद्मा
ह्यपि बत हृतचेता उत्तमश्लोकजल्पैः ॥ १३ ॥

किमिह बहु षडङ्घ्रे गायसि त्वं यदूना-
मधिपतिमगृहाणामग्रतो नः पुराणम् ।
विजयसखसखीनां गीयतां तत्प्रसङ्गः
क्षपितकुचरुजस्ते कल्पयन्तीष्टमिष्टाः ॥ १४ ॥

दिवि भुवि च रसायां काः स्त्रियस्तद्दुरापाः
कपटरुचिरहासभ्रूविजृम्भस्य याः स्युः ।
चरणरज उपास्ते यस्य भूतिर्वयं का
अपि च कृपणपक्षे ह्युत्तमश्लोकशब्दः ॥ १५ ॥

अपनी मोहनेवाली अधर-सुधाका एक बार पान कराकर उन्होंने हमें छोड़ दिया, जिस तरह तू किंचित् पुष्पोंका रस लेकर उन्हें छोड़ देता है। लक्ष्मी उनके पाद-पद्मका सेवन क्यों करती है? मालूम होता है कि वह उन उत्तम श्लोक (भगवान्) के वचनों-द्वारा चित्तके चुराये जानेपर ही ऐसा करती है ॥ १३ ॥

हे षट्पद! हम बिना घर-द्वारवाली वनचारिणियोंके आगे (सामने) पुराने जाने-पहिचाने यदुपति (श्रीकृष्ण) का क्यों बहुत बखान (बड़ाई) करता है? यह कीर्ति-कथा तो उस अर्जुनके सखाकी सखियोंको ही जाकर सुना, उनके आगे ही जाकर गा जो कि उनकी प्यारी हैं और जिनके स्तनोंका कामविरोग उनके हृदयसे लगनेके कारण मिट गया है, वे ही तेरे मनोरथको पूरा करेंगी ॥ १४ ॥

त्रिभुवनमें कौन ऐसी स्त्री है जो उन्हें दुर्लभ हो? जिसे कि वह प्राप्त न कर सके? क्योंकि (उनका) कपटयुक्त मंद हाँसी और भौंहोंका विचित्र-विलास बड़ा सुंदर है—मोहक है। जिनके चरण-रजकी उपासना महालक्ष्मी निरंतर किया करती हैं उसके लिये हम क्या हैं? फिर भी जो दीन-दुखियोंपर दया-दृष्टि रखते हैं—करते हैं उन्हें उत्तमश्लोक नामसे पुकारा जाता है औरोंको नहीं ॥ १५ ॥

श्रीशुक उवाच

अथोद्धवो निशम्यैवं कृष्णदर्शनलालसाः ।
सान्त्वयन्प्रियसन्देशैर्गोपीरिदमभाषत ॥ २२ ॥

उद्धव उवाच

अहो यूयं स्म पूर्णार्था भवत्यो लोकपूजिताः ।
वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ॥ २३ ॥
दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥ २४ ॥
भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा ।
भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा ॥ २५ ॥
दिष्ट्या पुत्रान्पतीन्देहान्स्वजनान्भवनानि च ।
हित्वा वृणीत यूयं यत्कृष्णाख्यं पुरुषं परम् ॥ २६ ॥

श्रीशुकदेव बोले कि उद्धव, कृष्ण-दर्शन-लालसासे उत्कण्ठित गोपियोंको इस प्रकार कहते-सुनते देख उन (गोपियों) को प्रियके सन्देशोंसे सान्त्वना देते हुए यह बोले ॥ २२ ॥

उद्धव बोले कि जिनके वासुदेव भगवान्‌में इस प्रकार मन अर्पित हो गये हैं—लग गये हैं, उनके सम्पूर्ण मनोरथ पूर्ण हो गये फिर वे लोक पूजित क्यों न हों ? ॥ २३ ॥

दान, व्रत, तप, होम, जप, स्वाध्याय और संयम आदि जितने भी श्रेयस्कर कर्म हैं, उन सबसे श्रीकृष्ण भगवान्‌की भक्ति सिद्ध की जाती है—प्रतिपादित की जाती है ॥ २४ ॥

इन्हों (गोपियों) ने उत्तम श्लोक भगवान्‌के प्रति बहुत उत्तम भक्ति की है, जो मुनियोंको भी दुर्लभ है ॥ २५ ॥

पति, पुत्र, देह, स्वजन और घर—इन सबको छोड़कर, इन्होंने उत्तम पुरुष श्रीकृष्णको वरा—चाहा, जो बड़ा सुन्दर है ॥ २६ ॥

सर्वात्मभावोऽधिगतो भवतीनामधोक्षजे ।
विरहेण महाभागा महान्मेऽनुग्रहः कृतः ॥ २७ ॥
श्रूयतां प्रियसंदेशो भवतीनां सुखावहः ।
यमादायागतो भद्रा अहं भर्तू रहस्करः ॥ २८ ॥

श्रीभगवानुवाच

भवतीनां वियोगो मे नहि सर्वात्मना क्वचित् ।
यथा भूतानि भूतेषु खं वाय्वग्निर्जलं मही ॥ २९ ॥
तथाहं च मनःप्राणभूतेन्द्रियगुणाश्रयः ॥२९-२॥
आत्मन्येवात्मनात्मानं सृजे हन्म्यनुपालये ।
आत्ममायानुभावेन भूतेन्द्रियगुणात्मना ॥ ३० ॥

आप सबका उन अधोक्षज भगवान्‌में विरहके कारण आत्मभाव हो गया है—हर समय उन्हें अपने पास देखती हो अतः हे महाभाग! तुमने मुझपर बड़ा अनुग्रह किया ॥ २७ ॥

अब आप सुखके देनेवाले अपने प्रियके संदेशोंको सुनें। हे मङ्गलकारिणियो! इसीके लिये मैं यहाँ आया हूँ और इसी कार्यके लिये मेरे स्वामीने मुझे यहाँ भेजा है ॥ २८ ॥

भगवान्‌ने कहा है कि हमारा और तुम्हारा किसी तरह किसी समय, कभी भी और कहींपर भी वियोग नहीं है। जिस प्रकार आकाश वायु अग्नि जल और पृथ्वी-आदि पंचभूतोंका, इन पंच-भूतोंसे बने शरीरधारी प्राणीसे नहीं होता ॥ २९ ॥

उसी प्रकार मैं भी मन और प्राणसे भूतेन्द्रिय-गुणोंका आश्रय होकर रहता हूँ अर्थात् उनसे मैं पृथक् नहीं हूँ ॥ २९ २ ॥

मैं दिव्य-ज्ञान-संकल्पके प्रभावसे भूत-इन्द्रिय-गुणोंको उनका रूप होकर अभिन्न जगत्‌को पृथक् शरीर होनेके कारण माया द्वारा सृजता हूँ—बनाता हूँ पालन करता हूँ अर्थात् रक्षा करता हूँ और नाश करता हूँ ॥ ३ ॥

आत्मा ज्ञानमयः शुद्धो व्यतिरिक्तोऽगुणान्वयः ।
सुषुप्तिस्वप्नजाग्रद्भिर्मायावृत्तिभिरीयते ॥ ३१ ॥
येनेन्द्रियार्थान्ध्यायेत मृषा स्वप्नवदुत्थितः ।
तन्निरुन्ध्यादिन्द्रियाणि विनिद्रः प्रत्यपद्यत ॥ ३२ ॥
एतदन्तः समाम्नायो योगः सांख्यं मनीषिणाम् ।
त्यागस्तपो दमः सत्यं समुद्रान्ता इवापगाः ॥ ३३ ॥
यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ॥ ३४ ॥
यथा दूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेऽक्षिगोचरे ॥ ३५ ॥

आत्मा तो ज्ञानमय होनेके कारण शुद्ध स्वरूप है—पृथक् है और गुणोंसे रहित है—असङ्ग है। अतः माया और प्रकृतिसे सम्बन्ध होनेके कारण (वह) जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति-रूप अवस्थाओंमें प्रकाशित होता रहता है ॥ ३१ ॥

जैसे मनमें स्वप्नके अनन्तर स्वप्न-जनित विषयोंका अनित्य-ज्ञान बना रहता है, वैसे ही जाग्रत् अवस्थामें मन द्वारा इन्द्रिय-जनित विषयोंका बोध ध्यान बना रहता है—होता रहता है अतएव इस अवस्थामें मनको रोकनेपर सावधान होनेके कारण मेरे स्वरूपको जानने लगता है ॥ ३२ ॥

बस इस प्रकार मनका रोकना ही समस्त विद्वानोंका अभिमत है। यही वेदार्थ है यही योग है यही सांख्य है यही दान-दम है और यही सत्य है, क्योंकि नदियोंकी समाप्ति—अन्त समुद्रमें ही तो होती है ॥ ३३ ॥

मैं तुम्हारी दृष्टिका प्रिय विषय बन इसलिये दूर रहता हूँ कि तुम्हारा मन एकाग्र हो जाय क्योंकि एकाग्र मन होनेपर ही मेरा ध्यान होगा, मन स्थिर होनेपर ही मेरे ध्यानकी कामना होगी ॥ ३४ ॥

जैसे प्रियतमके दूर रहनेके कारण स्त्रियोंका मन (उसमें) लगा रहता है, आकृष्ट बना रहता है वैसा मन पासमें—सामीप्यमें, नेत्रोंके आगे होनेके कारण नहीं लगता ॥ ३५ ॥

मय्यावेश्य मनः कृत्स्नं विमुक्ताशेषवृत्ति यत् ।
अनुस्मरन्त्यो मां नित्यमचिरान्मामुपैष्यथ ॥ ३६ ॥
या मया क्रीडता रात्र्यां वनेऽस्मिन्व्रज आस्थिताः ।
अलब्धरासाः कल्याण्यो माऽऽपुर्मद्वीर्यचिन्तया ॥ ३७ ॥

श्रीशुक उवाच

एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः ।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः ॥ ३८ ॥

गोप्य ऊचुः

दिष्ट्याहितो हतः कंसो यदूनां सानुगोऽघकृत् ।
दिष्ट्याप्तैर्लब्धसर्वार्थैः कुशल्यास्तेऽच्युतोऽधुना ॥ ३९ ॥
कच्चिद्गदाग्रजः सौम्य करोति पुरयोषिताम् ।
प्रीतिं नः स्निग्धसव्रीडहासोदारेक्षणार्चितः ॥ ४० ॥

अतः सब विषयोंसे हटाये हुए एकाग्र मनको मुझमें लगानेसे मेरा ध्यान करने और स्मरण करनेसे थोड़े ही समयके अनंतर मुझको मिलोगी ॥ ३६ ॥

हे कल्याणियो ! व्रजमें बसते—रहते हुए जो वनमें रात्रिके समय (मैंने) क्रीडा की जिनके साथ अनेकानेक खेल खेले, उनके अतिरिक्त जो और अलब्धरासा हैं वे मेरे पराक्रमका चिन्तन कर मुझे पा गयीं ॥ ३७ ॥

श्रीशुकदेवजी बोले कि राजन्, गोपियाँ प्रियतमके शुभ-सन्देशको इस प्रकार सुन और उस सन्देशसे प्रियका स्मरण होनेसे बड़ी प्रसन्न हो उद्धवसे बोलीं ॥ ३८ ॥

गोपियाँ बोलीं कि, यादवोंको दुःख देनेवाला कंस मरा यह सुन्दर हुआ। अतः सर्वार्थ सिद्ध प्राप्त, अर्थात् पूर्ण मनोरथी अपने प्रियोंके साथ अच्युत इस समय कुशल हैं बहुत सुन्दर है ॥ ३९ ॥

हे सौम्य ! यदुवंशके छोटे भाई नगर-निवासिनियोंकी मनोहर हास्य-युक्त कथा और उदार कथाओंसे पूजित होकर कभी हमारी प्रीतिकी बातें भी करते हैं ! ॥ ४० ॥

कथं रतिविशेषज्ञः प्रियश्च वरयोषिताम् ।
नानुबध्येत तद्वाक्यैर्विभ्रमैश्चानुभाजितः ॥ ४१ ॥
अपि स्मरति नः साधो गोविन्दः प्रस्तुते क्वचित् ।
गोष्ठीमध्ये पुरस्त्रीणां ग्राम्याः स्वैरकथांतरे ॥ ४२ ॥
ताः किं निशाः स्मरति यासु तदा प्रियाभि
वृन्दावने कुमुदकुन्दशशाङ्करम्ये ।
रेमे क्वणच्चरणनूपुररासगोष्ठ्या—
मस्माभिरीडितमनोज्ञकथः कदाचित् ॥ ४३ ॥
अप्येष्यतीह दाशार्हस्तप्ताः स्वकृतया शुचा ।
संजीवयन्नु नो गात्रैर्यथेन्द्रो वनमम्बुदैः ॥ ४४ ॥
कस्मात्कृष्ण इहायाति प्राप्तराज्यो हताहितः ।
नरेन्द्रकन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः ॥ ४५ ॥

वह रति-विशेषज्ञ होनेके कारण सुन्दर स्त्रियोंका प्रिय, पूजित होकर उनके सुन्दर वाक्योंमें भूल कैसे न बँध जायगा ? अर्थात् अवश्य बँध जायगा ॥ ४१ ॥

हे साधु! कभी पुरस्त्रियोंके समूहमें प्रवृत्त (आसक्त) गोविंद, अपनी इच्छित कथाओंमें प्रसंगानुसार हम ग्रामीणियों-गँवारियोंकी भी ये याद करते हैं ॥ ४२ ॥

वे (श्रीकृष्ण) कभी कुमुद कुन्द और इंदु तथा चन्द्रसे सुशोभित वृन्दावनकी उन रम्य-रात्रियोंका भी स्मरण करते हैं जिनमें हम प्यारियोंके साथ चरण-नूपुर ध्वनिसे परिपूर्ण रास रचा था और जिसमें हमने उसकी मनोहर कथा गायी थीं ॥ ४३ ॥

वे दाशार्ह कभी यहाँ आकर हमारे संतप्त गात्रको, जिस प्रकार मेघ वनको शीतल करता है उसी तरह अपने अंगोंसे शीतल करेंगे ? ॥ ४४ ॥

कृष्ण यहाँ क्यों आवेंगे ! उन्होंने अपने शत्रुओंको मार लिया उसका राज्य भी ले लिया राजकन्याओंके साथ विवाह कर लिया और अपने सुहृदोंसे घिर भी लिया ॥ ४५ ॥

किमस्माभिर्वनौकोभिरन्याभिर्वा महात्मनः ।
श्रीपतेराप्तकामस्य क्रियेतार्थः कृतात्मनः ॥ ४६ ॥
परं सौख्यं हि नैराश्यं स्वैरिण्यप्याह पिङ्गला ।
तज्जानतीनां नः कृष्णे तथाप्याशा दुरत्यया ॥ ४७ ॥
क उत्सहेत संत्यक्तुमुत्तमश्लोकसंविदम् ।
अनिच्छतोऽपि यस्य श्रीरङ्गान्न च्यवते क्वचित् ॥ ४८ ॥
सरिच्छैलवनोद्देशा गावो वेणुरवा इमे ।
संकर्षणसहायेन कृष्णेनाचरिताः प्रभो ॥ ४९ ॥
पुनः पुनः स्मारयन्ति नंदगोपसुतं बत ।
श्रीनिकेतैस्तत्पदकैर्विस्मर्तुं नैव शक्नुमः ॥ ५० ॥

वह आप्तकाम, अर्थात् पूर्णकाम महात्मा हम वनकी स्त्रियोंसे अथवा अन्य स्त्रियोंसे कृतकृत्य हो सकेगा ? कुछ कार्य साध सकेगा ? क्योंकि वह लक्ष्मीका पति है ॥ ४६ ॥

निराशा बड़ी सुखद है, यह स्वैरिणी (वेश्या) पिंगलाने कहा था और इसे हम भी जानती हैं, फिर भी कृष्ण प्रति हमारी दुरत्यया (दुस्तर परिपूर्ण) आशा नहीं छूटती—नहीं छूटती ॥ ४७ ॥

उन उत्तम श्लोक-द्वारा कही बातें किससे छोड़ी जायँगी—किससे त्यागी जायँगी, क्योंकि (उनकी) बातोंमें आसक्त लक्ष्मी उनके न चाहनेपर भी (उनका) संग छोड़ना नहीं चाहती ॥ ४८ ॥

हे प्रभो ! श्रीकृष्णने यमुना नदी, गोवर्धन गिरि और वनोंके इन प्रदेशोंमें संकर्षणके साथ अद्भुत चरित्र किये हैं ॥ ४९ ॥

ये सब स्थान (जहाँ जहाँ उन्होंने क्रीडा की थी) नंदनन्दनको बार-बार याद करते हैं और हम भी लक्ष्मीनिकेत (घर) के उन चरण चिह्नोंको (नदी, शैल और वनोंमें) देखकर उनको भूल नहीं सकतीं ॥ ५० ॥

गत्या ललितयोदारहासलीलावलोकनैः ।
माध्व्या गिरा हृतधियः कथं तं विस्मरामहे ॥ ५१ ॥
हे नाथ ! हे रमानाथ !! व्रजनाथार्तिनाशन ।
मग्नमुद्धर गोविन्द गोकुलं वृजिनार्णवात् ॥ ५२ ॥

श्रीशुक उवाच

ततस्ताः कृष्णसन्देशैर्व्यपेतविरहज्वराः ।
उद्धवं पूजयाञ्चक्रुर्ज्ञात्वाऽऽत्मानमधोक्षजम् ॥ ५३ ॥
उवास कतिचिन्मासान् गोपीनां विनुदन् शुचः ।
कृष्णलीलाकथां गायन् रमयामास गोकुलम् ॥ ५४ ॥
यावन्त्यहानि नन्दस्य व्रजेऽवात्सीत् स उद्धवः ।
व्रजौकसां क्षणप्रायाण्यासन्कृष्णस्य वार्तया ॥ ५५ ॥

उनकी मनोहर चाल, सुन्दर हँसी—उदार हास, कौतुकपूर्ण देखना और मधुर बोलना हमारे हृदयोंमें बस रहा है,—रम रहा है हम उन्हें कैसे भूलें ॥ ५१ ॥

हे नाथ, हे रमानाथ हे व्रजनाथ, हे आर्त्तनाशन (दुःखोंसे छुड़ानेवाले), हे गोविंद, तुम्हारे विरह दुःख-समुद्रमें डूबे हुए व्रजका शीघ्र उद्धार करो ॥ ५२ ॥

श्रीशुक बोले कि गोपियोंने इस प्रकार कहने और सुननेके अनंतर श्रीकृष्णके संदेशोंसे अपने दुःखोंको कुछ कम कर, उद्धवको आत्माको अधोक्षज भगवान्‌की आत्मासे भिन्न—पृथक् न मान उन (उद्धव) का पूजन किया ॥ ५१ ॥

और उद्धव भी, श्रीकृष्ण-लीलाकी कमनीय कथाओंके निरंतर गान-द्वारा गोपियोंका शोक-शमन करते हुए गोकुलमें कितने ही दिन ठहरे रहे ॥ ५४ ॥

उद्धव श्रीनंदरायाके व्रजमें जितने भी दिन रहे । वे दिन श्रीकृष्णकी निरंतर बात-चीत होनेके कारण क्षण-समान व्यतीत हो गये ॥ ५५ ॥

सरिद्वनगिरिद्रोणीर्वीक्षन्कुसुमितान्द्रुमान् ।
कृष्णं संस्मारयन्रेमे हरिदासो व्रजौकसाम् ॥ ५६ ॥
दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम् ।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ ॥ ५७ ॥
एताः परं तनुभृतो भुवि गोपवध्वो
गोविन्द एव निखिलात्मनि रूढभावाः ।
वाञ्छन्ति यद्भवभियो मुनयो वयं च
किं ब्रह्मजन्मभिरनन्तकथारसस्य ॥ ५८ ॥

वे यमुना नदी, गिरिकुंजादि, वन, गोवर्धनगिरिकी कंदरा और प्रफुल्लित वृक्षोंके जिनमें भगवान् श्रीकृष्णने क्रीडाएँ कीं दर्शन करते-कराते श्रीकृष्णकी याद दिलाते रहे ॥ ५६ ॥

उद्धव, गोपियोंकी श्रीकृष्णमें आन्तरिक अत्यंत आसक्तिके कारण उनकी विपुल-विकलताको देखकर बड़े प्रसन्न हुए और उन्हें (गोपियोंको) नमस्कार कर इस तरह बोले ॥ ५७ ॥

इस पृथ्वीपर शरीरको धारण करनेवाले जीवोंमें इन गोप-वधूटियोंका जन्म ही धन्य है—इनका जन्म लेना ही सार्थक है क्योंकि इन्होंने सबके आत्मा श्रीगोविन्दमें अपने सब रूढ़ भाव* प्रविष्ट भाव लगा दिये हैं जिन्हें कि संसारसे विरक्त रहनेवाले मुनि और संसारमें स्थित आसक्त हम सब चाहते हैं । अतः भगवत्कथा-रसके चाहनेवालोंका ब्राह्मण कुलमें जन्म लेना ही कुछ विशेष कारण नहीं है—प्रयोजन नहीं है ॥ ५८ ॥

* रूढिभावके अर्थमें भी भावज्ञ आचार्योंका विभिन्न मत है, कोई इसका अर्थ प्रेम मानता है तो कोई स्वाभाविक ज्ञान कोई वैराग्यकी क्रियाओंको मानता है तो कोई जन्म-मरणसे निवृत्ति—आदि-आदि ।

क्वेमाः स्त्रियो वनचरीर्व्यभिचारदुष्टाः
कृष्णे क्व चैष परमात्मनि रूढभावः ।
नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षा-
च्छ्रेयस्तनोत्यगदराज इवोपयुक्तः ॥५९॥

नायं श्रियोऽङ्ग उ नितान्तरतेः प्रसादः
स्वर्योषितां नलिनगन्धरुचां कुतोऽन्याः ।
रासोत्सवेऽस्य भुजदण्डगृहीतकण्ठ-
लब्धाशिषां य उदगाद् व्रजवल्लवीनाम् ॥६०॥

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥ ६१ ॥

अहो! कहाँ ये व्यभिचार-दृष्टिसे दूषित वनचरियाँ और कहाँ इनका परमात्मा श्रीकृष्णमें स्थिर-भाव—प्रेमासक्ति! कोई भी अज्ञानी हो और कितना अविज्ञ क्यों न हो, ईश्वरसे प्रेम करनेपर उसका कल्याण होता ही है। जिस प्रकार अमृतके गुणको न जाननेवाला उसका सेवन करनेसे अमर हो जाता है ॥ ५९ ॥

भगवान्‌से नितान्त प्रेम (अत्यन्त प्रेम) करनेवाली लक्ष्मी और कमलगंध जैसी कान्तिवाली देव-कन्याएँ, निरंतर अंगमें रहकर भी वह प्रसन्नता और प्रसाद न पा सकीं, जिसे कि रासोत्सवमें श्रीकृष्णकी भुजाओंसे आलिंगन कर व्रज-सुन्दरियोंने पाया था ॥ ६० ॥

यदि मैं, गोपियोंकी चरण-रज सेवन करनेवाली वृन्दावनकी गुल्म-लता और ओषधि ही बन जाऊँ—तो मेरा जन्म सफल हो जाय, क्योंकि इन्होंने (सर्व न छोड़े जानेवाले) दुस्त्यज स्वजनोंको और आर्य श्रेष्ठ पथका त्याग कर श्रुतियाँ भी जिसे ढूँढनेमें असमर्थ हैं ऐसे श्रीमुकुंद भगवान्‌को भजा है—पाया है ॥ ६१ ॥

या वै श्रियार्चितमजादिभिराप्तकामै-
र्योगेश्वरैरपि यदात्मनि रासगोष्ठ्याम् ।
कृष्णस्य तद्भगवतश्चरणारविन्दं
न्यस्तं स्तनेषु विजहुः परिरभ्य तापम् ॥ ६२ ॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥ ६३ ॥

श्रीशुक उवाच

अथ गोपीरनुज्ञाप्य यशोदां नन्दमेव च ।
गोपानामन्त्र्य दाशार्हो यास्यन्नारुरुहे रथम् ॥ ६४ ॥
तं निर्गतं समासाद्य नानोपायनपाणयः ।
नन्दादयोऽनुरागेण प्रावोचन्नश्रुलोचनाः ॥ ६५ ॥

इन गोपियोंने लक्ष्मी, आप्तकाम ब्रह्मा और शिव-द्वारा पूजित भगवान् श्रीकृष्णके चरणोंका जिन्हें कि योगेश्वर सदा अपने अन्तःकरणमें ध्यान करा करते हैं रास-गोष्ठीके समय अपने स्तनोंपर रख और उनसे आलिंगन कर (अपने) तापोंका नाश किया था ॥ ६२ ॥

मैं इन नंद-व्रज-स्त्रियोंकी निरंतर वंदना करता हूँ, क्योंकि इनके द्वारा गायी गयी हरि-कथा तीनों भुवनोंको पवित्र करनेवाली है ॥ ६३ ॥

श्रीशुक बोले कि इसके अनंतर दाशार्ह (उद्धव), गोपियोंसे, यशोदासे और बाबा नंदसे आज्ञा लेकर और गोपोंसे मिलकर जानेके लिये—मथुरा वापिस जानेके लिये रथपर बैठे ॥ ६४ ॥

नंदादिक उन्हें (उद्धवको) जाते देखकर अपनी आँखोंमें अनुराग-के आँसुओंको भर—प्रेमाश्रुओंसे अभिषिंचन कर, हाथोंमें उन्हें देनेके लिये अनेकानेक भेंटकी वस्तुएँ ले यह बोले ॥ ६५ ॥

मनसो वृत्तयो नः स्युः कृष्णपादाम्बुजाश्रयाः ।
वाचोऽभिधायिनीर्नाम्नां कायस्तत्प्रह्वणादिषु ॥ ६६ ॥
कर्मभिर्भ्राम्यमाणानां यत्र क्वापीश्वरेच्छया ।
मंगलाचरितैर्दानै रतिर्नः कृष्ण ईश्वरे ॥ ६७ ॥
एवं सभाजितो गोपैः कृष्णभक्त्या नराधिप ।
उद्धवः पुनरागच्छन्मथुरां कृष्णपालिताम् ॥ ६८ ॥
कृष्णाय प्रणिपत्याह भक्त्युद्रेकं व्रजौकसाम् ।
वसुदेवाय रामाय राज्ञे चोपायनान्यदात् ॥ ६९ ॥

इति श्रीमद्भागवते महापुराणे दशमस्कन्धे पूर्वार्धे उद्धवप्रतियाने सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ।



हमलोगोंके मनकी सारी वृत्तियाँ उन (श्रीकृष्ण) के चरणोंमें, वचन उनके नामोंका गान करनेमें और शरीर उनको प्रणाम करनेमें लगे रहें ॥ ६६ ॥

ईश्वरकी इच्छासे हमने जो कुछ भी मङ्गलमय आचरण और दानादि किये हैं उन कर्मों-द्वारा घूमते हुए—भ्रमते हुए हम किसी योनिमें जायँ, परंतु हमारी प्रीति परमेश्वर-श्रीकृष्णमें ही लगी रहे ॥ ६७ ॥

राजन्, उद्धवजी इस प्रकार कृष्ण भक्त गोपोंसे पूजा पानेपर पुनः श्रीकृष्ण-पालित मथुरामें आये ॥ ६८ ॥

श्रीकृष्णको प्रणाम करनेके अनंतर व्रज-वासियोंकी भक्तिकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर—उनकी भक्तिके उद्रेकको बताकर, वसुदेवजीको राम (बलराम) को और महाराज उग्रसेनको नंदादिक-द्वारा दी गयी भेंटें दीं ॥ ६९ ॥

परिशिष्ट—("ख")*

ऊधौ कौ उपदेस सुनौं किन कान दै।
निरगुनी स्याम सँदेस पठायौ कौन दै॥



कोउ आवत इहि ओर जहाँ नँद-सुवन पधारे।
सरस बेनु धुनि होत मनौं आए ब्रज प्यारे॥
धाइ सब इक गलिन कैं, ऊधौ दीखे आइ।
ह्वै आए मधुराज-कर भौंमर उर न समाइ॥ १॥



अरघ आरती तिलक, दूब दधि माथे दीन्हीं।
कंचन-कलस भराइ, आपुरि परिकंमा कीन्हीं॥
गोप-भीर आँगन भई, हरि बैठे इक बारि।
जल-झारी आगें धरी, पूँछति हरि-कुसलाति॥ २॥



कुसल-छेम बसुदेव, कुसल देवकि-कुबजाऊ।
कुसल-छेम अक्रूर, कुसल नीके बलदाऊ॥
पूँछि कुसल गोपाल की, रहे सकल गहि पाँइ।
प्रेम-मगन ऊधौ भए, देखत ब्रज के भाइ॥ ३॥

---

* सूरदासजीका 'भ्रमरगीत' बहुत प्रसिद्ध है और उसकी सुमधुर पदावली सहृदयोंका कंठहार है। सूरसागरके उस भ्रमरगीतमेंसे कुछ संग्रह पूर्वीय सम्पादकोंकी सूझ-बूझके अनुसार छप चुके हैं, अतः उसे न दुहरा कर इस भीतरकी उसमें एक नयी भ्रात रचना कि पाठकोंकी भेंट परिशिष्ट "ख" रूपमें की जाती है। भूल-चूक लेनी-देनी।

मन में ऊधौ कहैं कुब्जिए कहाँ गोपालहिं ।
ब्रज कौ हेत-बिसारि, जोग सिखवैं ब्रज-बालहिं ॥
इनकी प्रीति पतंग लौं जारत है मन देह ।
वे हरि-दीपक-जोति ज्यौं नेकु न जानैं नेह ॥ ४ ॥

५

ऊधौ जब ही चलौ लिखी हरि जू की पाती ।
पढ़ौ परत नहिं नेकु, रहे पीरी करि छाती ॥
पाती बाँचि न आवई रहे नैन जल-पूरि ।
देखि प्रेम गोपीन कौ ज्ञान-गरब गयौ दूरि ॥ ५ ॥

६

फिरि ब्रज-रज बैठाइ नीर नैनके सोचे ।
ठौंगी कथा प्रबोधि तबहिं फिरि गोप-हँसोये ॥
कहे मथ सुमिरत प्यारहीं पावत नर अवतार ।
है मथ सिख सब गोपिका देहि जू चिते-बिसार ॥ ६ ॥

७

सुनि कथा के बचन रही सब नीचे तारे ।
मोंगें माँगति सुधा ओमि स्याम-निरिख कारे ॥
हम गँवारि का जानहीं जोग-जुगति की रीति ।
नंद-नंदन-ब्रज छाँडि कैं को लिखि पैठी प्रीति ॥ ७ ॥

८

अगम अगाह अपार आदि अनादि है सोइ ।
आदि निरंजन नाम ताहि रंजै सब कोइ ॥
नैन नासिका अग्र है तहाँ ब्रह्म कौ बास ।
अविनासी बिनसै नहीं सहज जोति परगास ॥ ८ ॥

९

ऊधौ को पय-पीति नाहिं अजहुँ क्यों बीते ।
नैन बालिका मुख न चोरि-दधि कोंपे बाचे ॥
तब हू सिखए गोद मैं, बोलि तोतरे बैन ।
ऊधौ ताहि बताय ही आदि न सूझे नैन ॥ ९ ॥

माया अखिल अकारी का कोमल हृद जावे ।
ज्यौंमी नैन अनंत ताहि सूझै परमावे ॥
सूझी निगम-सुगम कैं, कहै भेद समुझाइ ।
आदि-अंत जाको नहीं कौन पिता को माइ ॥ १० ॥

ऊधौ घर कौ धूर क्यौं मन कहँ-कहँ धावै ।
अपनौ घर परिहरै कहाँ को पूर बतावै ॥
मूरख जादव जाति है हमहिं सिखावै जोग ।
हम सों भूली कहत है हम भूली कै लोग ? ॥ ११ ॥

प्रेम प्रेम तें होइ प्रेम तें पार है रहिए ।
प्रेम-बँधो संसार प्रेम-परमारथ कहिए ॥
एकै निस्चै प्रेम को जीवन-मुक्ति रसाल ।
साँचो निसचै प्रेम कौ जाहिर मिलै गुपाल ॥ १२ ॥

ऊधौ कहि सत-भाव न्याइ तुम्हरे-मुख साँचे ।
जोग-प्रेम-रस-कथा कहा कंचन के काँचे ॥
जाके घर है डुलिये, गहिये सोई नेम ।
मधुप हमारी सौं कहौ जोग भलौ कै प्रेम ॥ १३ ॥

पाठान्तर—

१ हमहीं भूली कहत हैं कै भूले सब लोग ।
भूले हम हैं कहत है, हम भूली कौं लोग ॥

सुनि गोपिन के बैन नैन ऊधौ जल भूले[1] ।
प्रेम-पथिक-गुन-गात, फिरत कुंजन में फूले[2] ॥
सुनि गोपिन के पाँइ परि कहत भाव हठि बैन[3] ।
धाइ-धाइ द्रुम भेंटि हीं ऊधौ छाके प्रेम ॥ १४ ॥



धनि गोपी धनि ग्वाल धन मुरली-धन-धारी ।
धनि इहि पावन भूमि जहाँ गोविंद अभिसारी ॥
उपदेसन आयौ हुतौ मोहि भयौ उपदेस ।
ऊधौ जदुपति पै चले धरि गोपी कौ भेष ॥ १५ ॥



भूले जदुपति नाम कहत गोपाल गुसाँइ ।
एक बार ब्रज जाइ देहु गोपिन दिखराई ॥
वृंदावन-सुख-छाँडि कें जहाँ बसे ही जाइ ।
गोवर्धन प्रभु जीति कै, ऊधौ पकरे पाँइ ॥ १६ ॥



ऊधौ ब्रज कौ प्रेम-नेम बरनौं सब जाइ ।
प्रेममग्न नैनन-नीर बात कछु कही न जाई ॥
'सूर' स्याम भूतल भए, रही नैन जल छाइ ।
पौंछि पीत-पट सौं कह्यौ आए जोग-सिखाइ ॥ १७ ॥



---

१ नैन ऊधौ के भूल्यौ ... ।
२ गावत गुन गोपाल, फिरै कुंजन में फूल्यौ ॥
३ लैन गोपिन के पाँइ परि बरत धन्य वे नैन ।

परिशिष्ट—("ग")

युक्ति-समूह

दोहा

ऊधौ तू सौं इक लैनि कही कही ब्रजराज।
गोकुल-ग्राम सिधारिये, परमारथ के काज॥ १॥

●

ऊधौ तो अति-ही ऊधौ हँस सौं कही प्रीति।
जाते हम सौं दे कहीं जाइ सिखावौ रीति॥ २॥

●

ऊधौ तू गोपीन सौं जाइ देहु हँस योग।
जाते उनकौ नस मिटै दारुन बिरह सोग॥ ३॥

●

---

१ यह कलात्मक कृति पहले श्रीयोगमें हमारे सुप्रसिद्ध हिंदी-लेखक पं० हरिशंकरजी शर्मा कोटावाली भागवतके यहाँ देखनेमें आयी थी। अतः कोकोकिलियोंका इतना सुंदर संभवरूप कृष्ण-काव्य, विशेषकर उद्धव-गोपी-संवादके रूपमें बड़ा सुंदर लगा। इसके पूर्व कोकोकिलियोंके कुंजमें वहीं एक रम्य-रचना 'श्रीब्रजलानंद' एवं 'प्रस्थान भागवत दशम' देखनेमें आयी थी, वह भी अत्यन्त सुंदर थी। अस्तु, इन दोनों ग्रन्थ-रत्नोंके सुसंपादित रूपमें प्रकाशनकी चर्चा चली पर वह हो न सका। इधर श्रीनंददासजीके 'भ्रमरगीत' के साथ उसे देनेकी याद आयी, एक मित्रने इसके हस्तलिखित रूपमें मासिकी सूचना दी, अतः खोजा गया और येन-केन प्रतिलिपि कर ले आया यही आज परिशिष्ट "ग" रूपमें प्रस्तुत है। रचना कैसी है, इसे मित्र पाठक देखें और समझें। —संपादक

मोहन सों ऊधो चले, आज्ञा लै ब्रजराज।
परमारथ सिखयो मनो,—"एक पंथ द्वै काज" ॥ ४ ॥



ऊधो कों आयो सुन्यौ दौरीं देखन नारि।
"पहुँचो क्यों पिय-पातिया आतीं-भाग पुकारि" ॥ ५ ॥



कुसल-छेम की बूझि कै लै बाँहिं पिय चौम।
ऊधो सों फिर बूझिबी कहा कह्यौ है स्याम ॥ ६ ॥

उद्धव-वचन

हँस सौं कही गुपाल ने गोपिन सौं अति प्रीति।
तातें मो कों वे कहीं आइ बतावौ रीति ॥ ७ ॥



तब हँस सिच्छा देन कों आए गोकुल-धाम।
सिखवे को वे ज्ञान है जोग बतायौ स्याम ॥ ८ ॥



तातें गोपी सकल तुम लेहु चाव ते जोग।
सिद्धि होत तब तुम कृष्णसों तजि हौ दारुन सोग ॥ ९ ॥

गोपी-वचन

जोग लेहु री सार है मधुप देत ही सीख।
प्रेम तजें कोयहिं मनें "कमोलो-छोड़ें भीख" ॥ १० ॥



ऊधो हीरा-प्रेम तजि बाँधि गरे में काँच।
"जोई कहिंन-कहिये, सोई मैंहिये नाँच" ॥ ११ ॥



ऊधो छाँड़ि सुधीग कों प्रेम देहिं बिसराइ।
"घर की नाग न पूजिये, बाँबी-पूजैं जाइ" ॥ १२ ॥

कुंडलिया

सूधौ ऊधौ तू सखा हँसने तुम्हरो ग्यान ।
जगजीवन के उपदेस कौं आए ब्रज मैं ग्यान ॥
आए ब्रज मैं ग्यान हिए की आँखी आँखन ।
"सूधी-सूधी नाँहि पुनिय को बिसरैं गुठौंमन" ॥
कहैं सखा सिवचरन' रावरी सीख सँमूसो ।
राहो मोच है सखौं नात हैंस तें नहिं सूधौ" ॥ १३ ॥

०

ऊधौ तू गोपाल की नाँहि प्रीति मैं साज ।
"चार दिनों की चाँदनी फेरि अँधेरी पाख" ॥
"फेरि अँधेरी पाख" राख हैं हमने चीन्हौं ।
ताके पे फल भयो जोग ओपैं न तुम दीन्हौं ॥
कहैं सखा सिवचरन' तुम्हें चीन्हौं हम सूधौ ।
रीति-करैन न जानिति सीखिए आपन ऊधौ ॥ १४ ॥

०

दासी 'कुबजा' कंस की ता की अधिक मिठास ।
"नाम नगरिया मैं भयो भयो कुरिहरे-राज" ॥
"भयो कुरिहरे राज" कैमम सी कुबरी पियरी ।
वे चाँहैं नहिं कहीं जाति हैंम औंचें सिगरी ॥
कहैं सखा सिवचरन' भली यैं चोरी दासी ।
"जो अहीर के पुत्र करो करवारी दासी" ॥ १५ ॥

०

जानी या गोपाल कैं, कछू की नहिं पीर ।
"कौम-सरैं दुख-पीसरैं पाछ न देत अहीर" ॥
"पाछ न देत अहीर" प्रीति उनमें कहूँ पाई ।
"चोरी की बिन जाइ नृपति के मनें न माई" ॥

कहै सत्यं सियराम आँगके उर ना राखी ।
तुम पूर्वौहि पविरतो करी माधक सिर राखी ॥ १६ ॥

●

ऊधो वे माँगे नहीं प्रीति जु हँस सौं राखि ।
"नाथ की [illegible] पैरत आँगे साखि" ॥
पैरत आँगे साखि कैसोई सो है सब सौं ।
[illegible] सुहागिन माँगे सब सौं ॥
कहत सत्यं सियराम [illegible] हमारी है सूधे ।
हमें प्रेम को नेम और नहिं [illegible] ऊधो ॥ १७ ॥

दोहा

दासी सौं ऊधौ करी हँस सौं प्रीति दुराइ ।
"कूबर चोट बिसारियौ काकी चाहैन जाइ" ॥ १८ ॥

कुंडलिया

[illegible]-सँदेसे के सुनत लख्यो ऊधौ वर वेष ।
"नयन बिरहियों के भए, वंशी केरी कुलेख" ॥
वंशी केरी कुलेख जोग का परखो सौंचे ।
[illegible] हँसि मधुरे तुम [illegible] में राखे ॥
कहै सत्यं सियराम लिखी ये जोग पुराने ।
प्रेमहि [illegible], जोग [illegible] ॥ १९ ॥

●

[illegible] ऊधौ है है [illegible] ।
"[illegible] है [illegible]" ॥
है [illegible] जोग [illegible] ।
[illegible] ऊधौ [illegible] ॥
कहत सत्यं सियराम [illegible] ।
[illegible] है [illegible] ॥ २० ॥

या गुपाल सौं प्रीति कर हँम चौकौं रस-रास ।
"नदी-किनारे रूखरा जब-तब होइ बिनास" ॥
'जब-तब होइ बिनास' हिरी ठाँने सो सूझै ।
हँम ओंसन-री चाँहि मेह पै दूख न बूझै ॥
'कहै सत्यौ सिवलाल' वार भाँखिनी-नाल सौं ।
दर्पन न पायौ कछौ कोड, या गुपाल सौं ॥ २१ ॥

बिगरी हँमरी ना सखी छोरी प्रीति गुपाल ।
"कोदी-नैन बाँह सी सीठी और कुचाल" ॥
'सीठी और कुचाल' हँमारी कहा है जिन कौ ।
घर-घर-रमतो [illegible] जाइ कहा है जिन कौ ॥
'कहै सत्यौ सिवलाल' हेरि अन्तर्यामी बिगरै ।
"जौरें नातौ कटै कहा चोपी कौ बिगरै" ॥ २२ ॥

पायौ कब सौं प्रेम हँम नेम रहौ न सुपास ।
"अनुराग-जाति सीतरा जौ निकसी लो जास" ॥
'जो निकसे सो जास' हँमारें भाँहिं न दूरन ।
चाँहिं हमसौं मिल्यौ करौं तौ हुँम सौं मिलन ॥
'कहै सत्यौ सिवलाल' हँमारें निकसै नायौ ।
"जोई न्हाँई गंग सोई हँमने फल पायौ" ॥ २३ ॥

काकी आगी होइ तो सी मन पीर सिराइ ।
"सूरी पराए पेट में मौंसौं सुम में आइ" ॥
'मौंसौं सुम में आइ' जोग गोपि न को मन-री ।
करते रस-बिलास [illegible] जब हो कहँ तन-री ॥
'कहै सत्यौ सिवलाल' 'मीत गों कौ [illegible] ।
कुबजा सौं रति आप ऐन सिखरा हँमैं [illegible] ॥ २४ ॥

दीन्हौं जोग हमैं सखि कहैं जोग उपदेस।
'जैसी कंथा घर रहै तैसी गए बिदेस' ॥
तैसे गए बिदेस हमारो जीवन-धन-री।
जगती ज्यों-ज्यों सखी हमैं त्यों-त्यों मरि मारी' ॥
'कहै सदाँ सिवलाल' इतौ अपराध न कीन्हौं।
बिरह दैन हीरन दई सखी, जोगि न कौ दीन्हौं ॥ १५ ॥

●

ऊधौ जू, तब-हीं सु किन जोग दियो सोपराध।
"औसर-चूकी डोमिनी गावै सरग-पताल" ॥
'गावै सरग-पताल' रस कहा सुख स्वादु।
इतो करौं अब मधुप सुधा-रस अधर-पिवाए ॥
'कहै सदाँ सिवलाल' जोगसी-री हम सूनो।
अब नाहिं दीन्हौं जोग देत सिखवन अब ऊधौ ॥ १६ ॥

●

माँगैं ऊधौ क्यौं-कौं देस्यो अपनी माग।
"बरती मारी बन गई बन-ई लागी आग" ॥
'बन-ई लागी आग' बाँस-बाँस जावे जरि कें।
करी काँम सौं प्रीति करे मुख्यर्थ सिर धरि कें ॥
'कहै सदाँ सिवलाल' जोग है बैर सु राखें।
इयों अनंग की कोप कुरौं क्यों उनकों माँगें ॥ १७ ॥

●

ऊधौ हमसौ तांकि हैं वाहीन-मोंहि कौं।
'एक करेला कारन, दूजें नीम चढ़ौ' ॥
'दूजें नीम चढ़ौ' अहीर कौ पीर कह्यौ-री।
सूधी हम-ही सती कपट की काँम मुरारी ॥
'कहै सदाँ सिवलाल' जोगनी हरि कौं सूनो।
भरहर दरिया कुमड़,—गुजराती कवी' ॥ १८ ॥

❁

ऊधौ कुबजा सौं करी प्रीति हमें दै पीठ।
"मारैंन सारैंन हरि मिले ढूँढि परे बसीठ" ॥
ढूँढे परे बसीठ कागौ-सी आप बाद कौ।
"पोथी कौ कूबरा मर्या मा पर-हिँ स्वाद कौ" ॥
कहै सखी सिखरूपक ऊधौ ऐसौ बनमाली।
आप करत हैं भोग जोग गोपिन कौं भाखी ॥ १९ ॥

•

ऊधौ मानें ना हमी या कुब्जाँन की कोइ।
"ज्यौं-ज्यौं भीजै कामरी त्यौं-त्यौं भारी होइ" ॥
"त्यौं-त्यौं भारी होइ" जोग ये हमैं सिखावैं।
औरैन देंवैं सगुन-आप कुलैन-कुबजावैं ॥
कहै सखी सिखरूपक जाँनती हरि कौं सूधौ।
कुबजा सौं करि भोग देति सिखवा यौं ऊधौ ॥ २० ॥

•

ऊधौ स्याँम-सुहाग की कुबजा कै सिर सिद्द।
"बर की जोगी जोगड़ौ आँन गाँव कौ सिद्द" ॥
"आँन गाँव कौ सिद्द" पठयौ हमैं जोग दै।
रखिदै पै सुचितैन नाहि प्यारी सु भोग दै ॥
कहै सखी सिखरूपक जाँनती-ही हरि-रूपौ।
सिरु पायस ना हम मनी जोरी सुभ ऊधौ ॥ २१ ॥

चौपाई

ऊधौ यहाँ जोग कै लाये। ज्यौं अँधिन मैं दीप जलाए ॥
यही जोग सिखवती आई। "पोथी पढ़ कै जग-जग आई" ॥ २२ ॥

•

हरै ससल लाख़ी तू आयौ। जोबँन-मूरि दूर लै गयौ ॥
देहु भीख जो हमरे पास। "गार्पे अंक का उर की आस" ॥ २३ ॥

भ्रमर-गीत

निस-दिन प्रीति हमारी बढ़ै। "पूरे-वासँन क्यों उर चढ़ै ॥
इक वौ मरती वाँम वियोग। तापर कहत वेगुरी योग" ॥ १३ ॥

●

हरि वही कुबजा-सी तिया। तोहि पा मोहि कुँबरार मेंति वा"॥
सूर्यौ सु-वो बनी है बैर। "जल में बसैं मगर सों बैर" ॥ १४ ॥

●

प्रीति करी हँम पायौ जोग। माग आपने कुबजा भोग" ॥
"कर्म-हीन अब वेसी करै। बैठ मरै है सूखा परै ॥ १६ ॥
सौंह हँमरी सखी बकाइ। बंधौ पीछै कृष्ण-माइ" ॥
और बर्तन हेतु मनजाप। मथुरा-मारै दवला हम्म" ॥ १७ ॥

●

दै जोग सिर पूछ सुवारी। "बेरी बतरव कार्यन मारी ॥
कधौ कौ मत सूधौ बाँनी। या सों कपटी और न मान्यौ ॥ १८ ॥

●

बाकी ए हँम मधुबँन-माँहि। कोई मरै सँगाती नाँहि" ॥
छोरे कधौ करे कमौसे। "रानी करी वकवादिहाँ ॥ १९ ॥

●

कधी गोपिँन सौं समभाव। सूधौ मन मिलि कैन कौ राज" ॥
हँम कुलहँन सौं छाकी करै। "पही पार सम्मत कर परै ॥ २० ॥

●

"रटुवा सभी बीतै संग्राम। क्यों रात्यौ कुलहँन कौ धाँम" ॥
जिनमें प्रेम-सुधा-रस पाया। "कथा मन न कछु अभिलाख्यौ" ॥ २१ ॥

●

भीष-प्रसंग स्याँम की भूल। नाही कुबिजा मनसमय सूल" ॥
देखी या वपवा की रेख। सीस-कँकुर पर्यौ सुलेख" ॥ २२ ॥

☆

ऊधौ जू, हम कौं है माई। "चौंस चाइ उतराई दई" ॥
ऊधौ ब्रज की देखौ केरौ। "नाँच न आवै आँगन टेढ़ौ" ॥ ४३ ॥

●

माँडी बात बनावै कौन। "नैंस न चूनौ चूरी चौंन" ॥
पीछे नैम प्रेम को ओर। "परदेस देखें तीरै चोर" ॥ ४४ ॥

●

"कीकी अपनी नाँहि कैमाइ। कैसें होय दैइ-सी माई" ॥
हरिनौं ना हमरौ जस-साथ। "भरे सँमुदर औंधा हाथ" ॥ ४५ ॥

●

ऊधौ जू, हँमरी है चूक। "प्रीति करी, सो दुख की मूक" ॥
मन दै कीजँन काउ कोई। "धोखौ बनियाँ सीखौ होई" ॥ ४६ ॥

●

हम कौं ऊधौ ग्याँन बतावै। "लोक मरै मलारै गावै" ॥
कूबरी कुबजा सोहत ग्वारी। "गज-भर मिर्चा, सवा गज दाढ़ी" ॥ ४७ ॥

●

कीरति-मूरत स्याँम बिहारी। नैंनन भावत दरस न प्यारी ॥
ढेर परी चंदँन के बिस्तर। "कौरि"न के बेगारी मिस्तर" ॥ ४८ ॥

●

नैंन-मूँदि कैं ग्याँनैं धरें। "मुँडुओं-ढारे पत्थर तरैं" ॥
करी प्रीति सों काँमहिं ऐसी। ऊधौ जू, करिहैं को ऐसी ॥ ४९ ॥

●

ऊधौ हँमरें ना बिसवास। "दूबै रिसियाँ घर मैं बास" ॥
कुबजा सौं उन जोरी प्रीति। ऊधौ यहै बनैन की रीति ॥ ५० ॥

●

जासों होत सरीर आग मैं। "केंड बबारँन सिर्यो बाग मैं" ॥
जोम नहीं जो हँमरी काँम। मन मैं तुम्हौ सबोंनी स्याँम ॥ ५१ ॥

●

ऊधौ जू, हँम कौं दै गई। "कुब्जा-गयल भेरि ह्वै गई" ॥
कुब्जा करी स्याँम पटरानी। प्रीति न जोड़ी हँम सौं साँची ॥ ५२ ॥

स्याँम परयौ जबसौं मनसूबा। जोगी भये कुब्जा के सूबा ॥
कुब्जा के ह्वै पटरानी-भाठा। "भई जोगनी गाँव में आटा" ॥ ५३ ॥

सो चौंहे सो दासी करै। जो कुब्जा के ऊधौ मन हरै ॥
ऊधौ जू, कछु कहत न आवै। "घर की जोगी जोगना गावै" ॥ ५४ ॥

टेढ़ी प्रीति चार दिन स्याँम। ऊधौ कहीं [illegible] नटवर स्याँम ॥
हाड़ हवैं दै चाँदाचाँदी। "पतिया चोरी, हल्दी चाँदी" ॥ ५५ ॥

ऊधौ मधौ कहौं दै जोग। या कौं सकल हँसत हैं लोग ॥
स्याँम करी कुब्जा सौं प्रीति। "अंधी मुरला बाली प्रतीति" ॥ ५६ ॥

होत हँमारी छाती बरैन। "ढूँढ़-मुबारक बौरे परैन" ॥ ५७ ॥

सोरठा

कहौं स्याँम की बाँह मगन ऊधौ जोग लई।
हँम अँधियों को ब्याह "भगत गीत मसीत के" ॥ ५८ ॥

कुण्डलिया

आए ऊधौ तुँम भले देन जोग उपदेस।
"आर्यों मीनों अंगने द्वार कारे परदेस" ॥
'द्वार कारे परदेस' भेस अँग धूरि रमायें।
मारें रानी धता अँगोहि बसैन रँगायें ॥
कहे सखी विरहाकुल गरें मैं पै कैसो आए।
आवाँन की है जोग भई ज्यौं महा बाप ॥ ५९ ॥

चौपाई

ऊधौ हँस हँसी बतरावहिं। सेलें-बोलें बढ़िया चाहि" ॥
सौंग नहीं गोपिन के सीस। "होत चंकुरो ताकी सीस" ॥ १० ॥

●

जब कहे को दरद हमारो। हँसी-जैसे आदर भारो" ॥
हँसते नहीं प्रेम को खेल। "मोहे बाधि टाँगि जो हेल" ॥ ११ ॥

●

मन न पूरे बात न आवे। जोगी दूर मौन ही पावे ॥ १२ ॥

सोरठा

है अहीर की जाति देत हँसे हरि जोग की।
मोहन नहीं बनावि अपें महरा बाँस की ॥ १३ ॥

छंद कमला

ऊधो कों न चाहत जगो मन जगो संग।
संग के जब संग आए पीहर भाज संग ॥ १४ ॥

सोरठा

धरो जोग बकसीस ऊधो तू, पै प्रीति पाल।
'भ्रमर-गीत' की सीस चोरेन को भय उर भरत' ॥ १५ ॥

●

करो पैठ उपहास ऊधो सों ठा पावरी।
"मारिहैं न सूत-कपास चोरी सों लाठी-ठाठ" ॥ १६ ॥

चौपाई

दरसन देहे कहो कृपाली। देखें पाती जाती पलटे ॥
मैंडे चौम भरे सिर देह। तामें बहुत बतरावन देह ॥ १७ ॥

●

भले कहो ऊधो उपदेस। "ऐसे बात में राखी देस" ॥
तामें बात कहे चोर देस। "आपही आपही आपही भेस" ॥ १८ ॥

कुंडलिया

हँस मानी पूरे भरी हों भई म्यांने पाँव ।
"सुर के हँस मानसर भरे ठौर-ठौर के भाव" ॥
'ठौर-ठौर कें भाउ' भव है भयो बेग सों ।
मार्जन कीने रोग, हरयो हँस भोग सों ॥
"कहैं सदौं सिखभाव" सदौं के हो हँस ग्यांनी ।
'सुमर के भी रस भव हँसने भव मानी" ॥ ६९ ॥

चौपाई

भरे आवी भरती भाव । जोपे कुमका भीने हाथ" ॥
भरी द, मन में फिरि भीने । भरियो आइ भरे सुख पीने ॥ ७० ॥

●

मार हँमारो नैन सों फूटै । "साँप मरो ना लाठी टूटै" ॥
ऊधौ हँस मार्जन रस मोही । समझ केर अपने मन मोंही ॥ ७१ ॥

●

पूरो न मोंनी ऊधौ मन की । ऊम छोटी भौंमन मन की' ॥ ७२ ॥

दोहा

भाषा-ग्रुचि-समूह की बरन्यो सिव परसार ।
ऊधौ अब गोपीन की लेकर हिय संचार ॥ ७३ ॥

●

याकौं सुँन रस-रस की होत अवार मकास ।
गोविंद गोपीजन-सहित करें हरे में बास ॥ ७४ ॥

●

अष्टारस बसु पट गिनें संवत करौ विचार ।
माधव शुक्ल पंचमी भरिति नखत गुरुवार ॥ ७५ ॥

अपरं
संवत् १८८६ वि०

॥ इति श्रीसदाशिवकृत "शुचि-समूह" समाप्त ॥

सचित्र, सक्षिप्त भक्त-चरित-मालाकी पुस्तकें

(सम्पादक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार)

भक्त बालक—पृष्ठ ७२, सचित्र, इसमें गोविन्द, मोहन, धन्ना, चन्द्रहास और सुधन्वाकी कथाएँ हैं। मूल्य ।)

भक्त नारी—पृष्ठ ९८, एक तिरंगा तथा पाँच सादे चित्र इसमें शबरी, मीराबाई, करमैतीबाई, जनाबाई और रबियाकी कथाएँ हैं। मूल्य ।)

भक्त-पञ्चरत्न—पृष्ठ ८८, एक तिरंगा तथा एक सादा चित्र, इसमें रघुनाथ दामोदर, गोपाल, शान्तोबा और नीलाम्बरदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ।)

आदर्श भक्त—पृष्ठ ९८ एक रंगीन तथा ग्यारह सादे चित्र, इसमें शिबि, रन्तिदेव, अम्बरीष, भीष्म, अर्जुन, सुदामा और चक्रिककी कथाएँ हैं। मूल्य ।)

भक्त-चन्द्रिका—पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें साध्वी सखूबाई, महाभागवत श्रीज्येष्ठदेव, भक्तवर विट्ठलदासजी दीनबन्धुदास, भक्त नारायणदास और बन्धु महान्तिकी सुन्दर गाथाएँ हैं। मूल्य ।)

भक्त-सप्तरत्न—पृष्ठ ८८ सचित्र इसमें दामाजी पन्त, मणिदास माली, कूबा कुम्हार, परमेष्ठी दर्जी, रघु केवट, रामदास चमार और सालबेगकी कथाएँ हैं। मूल्य ।)

भक्त-कुसुम—पृष्ठ ८४, सचित्र, इसमें जगन्नाथदास हिम्मतदास, बालीग्रामदास, दक्षिणी तुलसीदास, गोविन्ददास और हरिनारायणकी कथाएँ हैं। मूल्य ।)

प्रेमी भक्त—पृष्ठ ८८, एक तिरंगा चित्र, इसमें बिल्वमङ्गल, जयदेव, रूप-सनातन हरिदास और रघुनाथदासकी कथाएँ हैं। मूल्य ।)